उद्भ्रान्त प्रेम।

(गद्य काव्य)

—:०:—

श्रीयुक्त चन्द्रशेखर मुखोपाध्यायके

बंगला "उद्भ्रान्त प्रेम"से

अनूदित।

—*—

अनुवादक

द्वारकानाथ मैत्र,

वासुदेव आचार्य्य।

पण्डित रामरत्न आचार्य्य द्वारा

नं २१ बैसाख ष्ट्रीट, कलकत्तेसे

प्रकाशित।

कलकत्ता,

नं २५।२ए मछुआबाजार ष्ट्रीट, "ललित प्रेस"से

श्रीललितमोहन राय द्वारा मुद्रित।

—०—

संवत १९७२।

प्रथम बार १०००] [मूल्य ॥)

भूमिका ।

प्रत्येक पुस्तकमें साधारणत: उस पुस्तकका विषय तथा उसके लिखनेका तात्पर्य्य रहता है। यह पुस्तक श्रीयुत् चन्द्रशेखर मुखोपाध्यायके बंगला अद्वितीय गद्यकाव्यका हिन्दी अनुवाद है। उन्होंने यह पुस्तक अपनी प्रियतमाके वियोगमें लिखी है। परन्तु यही नहीं कि विरहकी बातोंसे पुस्तक भरी हो। ग्रन्थकारने विरहके बहाने तत्त्वविज्ञान, राजनीति, समाजनीति, प्रेम तथा धर्म्मका उपदेश दिया है।

कहीं तो विरहसंतप्त हृदयसे व्याकुल हो, निदारुण मनके अत्याचारसे पीड़ित हो और मर्म्मवेदनासे अस्थिर हो, कविने इस सुन्दरतासे निज दशाका वर्णन किया है, मानो अपना हृदय खोल कर रख दिया हो और कहीं प्राकृतिक विज्ञानके गूढ़ तत्त्वों पर विचार करते करते उसकी चरम-सीमा कर दी है। वैज्ञानिक गहन विषयोंकी सरल रीति पर मीमांसा की है। प्राकृतिक घटनाओंका इस सुन्दरतासे चित्र खींचा है कि उसका तात्पर्य्य हृदय पर अंकित हो जाता है। कहीं स्वदेशप्रेम, स्वजातिप्रेम तथा आत्मत्यागके अलौकिक रहस्यका भेद दर्शाया है।

भाषामें सरलता है। कल्पनामें कौशल है। भावमें चातुरी है और शब्दविन्यासमें निपुणता है। यह उच्चभावका भण्डार, भावसागरका तरंग, प्रेमका चिरवसन्त शोभामय

नन्दनकानन है। नारीको मर्म्मकथा, हृदय-रहस्य तथा चरित्रके सम्बन्धमें चन्द्रशेखर बाबूने बंगभाषामें लेखनी धारण की है। पाठक सोच भी सकते हैं कि पुस्तककी प्रशंसाहीसे भूमिका भर दी है, तथा आकाश और पातालके कुलावे एक कर दिये हैं। परन्तु यदि किसी अच्छी वस्तुको अच्छी कहना आतिशय्य है तो यह भी आतिशय्य हुआ। इसमें कुछ भी बढ़कर नहीं कहा गया। पाठकोंको स्वयं पुस्तकका अवलोकन करने पर पुस्तकके गुणावगुण प्रतीत हो जायंगे—हाथ कंगनको आरसी क्या ?

ऐसे मनुष्यकी बनाई हुई पुस्तक तथा ऐसी पुस्तकका अनुवाद करनेमें, सम्भव है कि, कहीं कहीं गलती रह गयी हो। क्योंकि एक तो किसी भाषासे अनुवाद करनेमें ठीक ठीक वैसे भावोंका लाना तथा पदलालित्यमें फर्क न पड़ने देना कठिन है। दूसरे फिर ऐसी पुस्तकका अनुवाद। आशा है कि सहृदय पाठकगण इसकी त्रुटियों पर ध्यान न दे केवल तात्पर्य्य ग्रहण करेंगे। यहां पर यह कहना अनुचित नहीं है कि ग्रन्थकर्त्ताके सिद्धान्तोंसे अनुवादक किसी किसी स्थानपर सहमत नहीं हैं। पर हां, यह शिरोधार्य्य है कि ग्रन्थकर्त्ताने निज मन्तव्यका बहुत ही स्पष्ट तथा निडर भावसे वर्णन किया है।

कलकत्ता,
१।४।१५। } भाषान्तरकारद्वय।

उद्भ्रान्त प्रेम ।

वह मुख ।

वह मुख—कैसे कहूं वह मुख कैसा था ? याद आने पर छाती फटने लगती है, सिर घूमने लगता है, आंख कानसे बिजली निकलने लगती है, नस नस में बिजली दौड़ती है—ऐसी अवस्थामें कैसे बताऊं वह मुख कैसा था ? अप्सराके कण्ठके मधुर गीतकी तरह, दूरसे आते हुए वीणा-झंकारकी तरह, अस्फुट चांदनीमें नदीके बीचमें गाये जाते हुए विरहसंगीतकी तरह, ग्रीष्मके सांझके तुरत खिले हुए कुसुमके सौरभसे लदे हुए समीरणकी तरह भाषामें वैसे शब्द नहीं, मनुष्यमें वैसी चिन्ताशक्ति नहीं, मेरी स्वप्नमयी कल्पना-शक्तिमें वैसा कवित्व नहीं, श्रोतामें वैसी सहृदयता नहीं, जगतमें उसका उपमेय नहीं, वैसा सुख-शान्ति-सौन्दर्य-पवित्रतापूर्ण कुछ भी नहीं देख पाता—हरि ! हरि ! कैसे समझाऊं वह मुख कैसा था ? वह मुख—और एक बार क्यों नहीं दीख पड़ता ? और कुछ नहीं, केवल

देखूंगा—केवलमात्र इन आंखोंसे देखूंगा और देखते देखते एक बार रोऊंगा। इसका मूल्य क्या है? जो लगेगा वही दूंगा। एक बार देखूंगा, जीवनभरके लिये एक बार देखूंगा और एक बार रोऊंगा। इससे किसी की हानि नहीं, किसीका अनिष्ट नहीं, कोई किसी सुखसे वञ्चित नहीं होगा, किसीके मनमें चोट नहीं लगेगी, कोई जानेगा नहीं, कोई सुनेगा नहीं—तो मैं एक बार देख क्यों नहीं पाता?

उत्तम वस्तुका मूल्य अधिक होता है, यह जानता हूं; अरजके दाम होते हैं, यह भी जानता हूं। यदि इस विश्व-व्यापारका कोई कर्त्ता है तो उसे पूछता हूं कि क्या लोगे? उस मुखको और एक बार दिखानेके लिये क्या लोगे? जीवन लो, अथवा उससे भी अधिक को भक्त—जीवन मत लेना, नहीं, कदापि न लेना—मेरा जीवनसर्वस्व लो। मेरा जीवन-सर्वस्व लोगे? आपही वर हो जायगा! लो न,—आशीर्वाद दूंगा—धन्यवाद दूंगा। मेरा जीवन सर्वस्व क्या है? मर्मान्तिक यातना, स्मृतिका वृश्चिक दंशन, सब कामोंमें उदासीनता, सब विषयोंमें लापरवाही, ईश्वरमें अविश्वास—यही मेरा सर्वस्व है—इसे लोगे? यह क्या सुखमय जीवन है? ईश्वरमें अविश्वास करना क्या सुखमय जीवन कहलाता है? तुम लोगोंको आशा भरोसा है, मुझे आशा नहीं! स्वर्गमें हो या नरकमें, तुम कहीं न कहीं अवश्य रहोगे। मैं एकाही बार सदाके लिये विलुप्त होऊंगा। तुम बैकुण्ठवासी हो सकते हो,

मैं यही छोड़ूँगा। तुमने जो वस्तु संसारमें खो दी है, सम्भवतः उसे फिर पा जाओगे ; मेरा जो कुछ गया है वह सदाके लिये चला गया ! तुम लोग चाहे सुखी होओ वा दुखी, इस जगत्‌व्यापारमें एक एक साझीदार हो ; मैं तो केवल आगन्तुक हूँ। आज आया हूँ, कल चला जाऊँगा। तुम लोग अनन्तकालके साथी हो, मैं जल बुद्बुद मात्र हूँ—अभी उठा, अभी मिला गया। एक धन था, केवल उसे दे नहीं सकता था—धनके बदलेमें भी नहीं दे सकता था, निर्वाण-मुक्तिके लिये नहीं दे सकता था, शान्ति-तोषके लिये नहीं दे सकता था, मनकी बात प्रकाश करनेकी क्षमताके परिवर्तनमें नहीं दे सकता था, इच्छामृत्युके बदलेमें नहीं दे सकता था—वह विनिमययोग्य धन नहीं था, वह बांटनेकी वस्तु नहीं थी, यदि होती तो देता। वह थी—अब नहीं है—न जाने कहां चली गयी। हृदय-पिञ्जरमें एक पक्षी पाला था—उसके लिये कितना यत्न करता था, कितना प्यार करता था, कितनी मधुर बातें सुनाता था ! वही स्वार्थसार पक्षी अकस्मात एक दिन बैठा बैठा सिकड़ी काट कर न मालूम कहाँ उड़ गया ? उसके लिये संसार ढूंढ डाला—कहीं पता नहीं लगा। जिस ओर देखता हूं उसका अभाव साफ दीख पड़ता है। उसको खोजमें न जाने कितनी वस्तुएं खोज डालीं, न मालूम कितने दर्शनविज्ञान छान डाले परन्तु कहीं भी उसका पता न चला सका। जितना प्यार करता था, जितना

आदर करता था—झूठी बात! प्यार करता था—अब भी प्यार करता हूं—जबतक जीता रहूंगा तब तक प्यार करता रहूंगा, परन्तु यत्न और आदर कभी भी नहीं कर सका। सदा यही विचारता था कि कहूं, कहूं; पर मनकी मनहीमें रह गयी, जी खोल कभी बात न कर सका। मैं उसको देवबाला समझता था, कभी अच्छी तरह आदर नहीं कर सका। न मालूम जीमें क्या सोचे! इस भयसे उसका सोहाग अच्छी तरह नहीं कर सका। छातीसे लगाने पर शायद चोट लग जाय—इस भयसे उस विरहिणीकी विरहश्वासनिर्मित देहको—उस शरत्-ज्योत्स्नारचित देहको—छातीसे लगानेकी कभी हिम्मत भी न कर सका। जब कभी दृष्टि डालकर देखा तभी यह ज्ञात होता था कि यह सुख इस जगत्का नहीं है। जहां शोक-ताप-दुःख है जहां स्वार्थपरता है, कपटिलता है, पाप है, वह सुख मानो वहांका नहीं है—किसी अन्य लोकसे नष्ट धनका अन्वेषण करते करते पथ भूलकर मानो इस पापतापपूर्ण संसारमें आ पड़ा है। इसीसे कभी आदर न कर सका। मनमें पछतावा रह गया—जो आदरका धन था उसका आदर नहीं कर सका। मेरा जीवमात्रअवलम्बन, मेरी जीवनमरुभूमिकी एकमात्र सरसी, मेरे हृदयाकाशका एकमात्र शुक्रतारा, मेरा सर्वस्व धन कहां चला गया! कहां गया? क्या हुआ? मनुष्य मर कर क्या होता है? नहीं? वह सुख! वह

जगत-अनुपमेय मुख! हरे हरे! किस विधाताने उसे गढ़ा था? वह मुख, जगत्-सौन्दर्यकी प्रतिमा स्वरूप वह मुख क्या मट्टी होगा? इसीसे कहता हूं इस जगत्में सुनियम नहीं हैं। नियन्ता नहीं, विधान नहीं, भले बुरेका विचार नहीं, पवित्रता अपवित्रताका तारतम्य नहीं, दयामाया नहीं, स्नेह ममता नहीं—केवल निठुरता, केवल कठोरपन, केवल परदुःखप्रियता, केवल परसुखकातरता है। किन्तु क्या कहता था, कहते कहते भूल गया—

वह मुख। याद आने पर छातीकी धड़कन बन्द हो जाती है, हृदयमें आनेपर हृदय मानों मुखमें कपड़ा ठूंस देता है और यथार्थ बात कहने नहीं देता—कैसे कहूं वह मुख कैसा था? विद्यापति * की कविताकी भांति, प्रणयके प्रथमोच्छ्वासकी भांति, समाधिगत प्राणकी स्मृतिकी भांति, निभृत कुञ्जमें सायन्हसमीरणके निश्वासकी भांति, बाल्यावस्थाकी सुखस्मृतिकी भांति अकस्मात् उद्भूत बहुदिन-विस्मृत सुखस्वप्नकी भांति, मृदुनिनादिनी क्षुद्रवीचिमालिनी जान्हवीके विशाल वक्षमें पूर्णिमाकी रात्रिकी मृदुपवन-विकम्पित शरद् ऋतुकी चांदनीकी भांति मेरे भूतपूर्व्वकी भांति

---

* एक प्राचीन सुप्रसिद्ध कवि हो गये हैं। इनके पद बंगदेशमें बहुत गाये जाते हैं। आराके बाबू ब्रजनन्दन सहाय वकीलने "मैथिल कोकिल" नामक पुस्तकमें लिखा है कि विद्यापति बंगीय नहीं थे, मैथिल थे। चाहे जहांके हों यहां पर हमें उनकी कविताओंसे तात्पर्य्य है।

वह मुख! उस मुखमें प्रेम-भिक्षा-परिपूर्ण वह हास्यमयी दृष्टि, वह भीत अथच पीयूष निष्यन्दिनी दृष्टि, जो दृष्टि पलक पलकपर कहती थी—मैं इस संसारको अच्छी तरह नहीं पहचानती, मैं इस जगत्‌की नहीं हूं, मुझे हेय समझकर न दुत्कारना; और वह हँसी—वह हँसीसे सनी हुई हंसी—हृदयका दर्पणस्वरूप वह हंसी, वह छोटासा हृदय और उसमें वह अतलस्पर्श प्रेम—बलिहारी जगदीश! इन सबका सृजन क्यों किया था? अब उनके याद आने पर न जाने कौन छाती पर पत्थर रख देता है, न जाने कितनी निष्फल वासनाएं, कितने अपूर्ण साधन, कितनी अतृप्त तृष्णाएं, कितनी निहत आशाएं, कितने असाधिगत अनुराग रूपी अधीर प्रेतगण स्मृतिके अन्धकार गह्वरमें व्याकुल भावसे हा! हा! कार उठते हैं! उस मुखको जिस दिन पहले पहल देखनेपर यह बात मनमें उठी थी कि इस रचनाका कोई रचयिता अवश्य है, इस शिल्पका कोई शिल्पी अवश्य है—यह अन्धनियमका कार्य्य नहीं है, उस दिनसे—और जिस दिन उस मृत्यु विवर्णीकृत देहको उस वात्याविच्छिन्न वासन्ती वल्लरीको, उस निदाघ-सन्तप्त कुसुमको, उस प्रभातके मलिन शशाङ्कको, मेरी उस उज्ज्वलित आशालताको गोदमें लेते समय मनमें आया था कि इस परिदृश्यमान जगत्‌में विचार नहीं है, पर-सुख-वासना नहीं है—उस दिन पर्य्यन्तकी सब बातें एक ही साथ बाढ़के जलकी नाईं याद आ पड़ती हैं।

अतएव सब बातें भूल जाता हूं। किसने तुम्हें उसको गढ़नेके लिये कहा था? यदि गढ़ा तो तोड़ा क्यों? क्या अपना शिल्पकौशल दिखानेके लिये ही ऐसा किया था? क्या केवल अधमको सतानेके लिये ही ऐसा किया था? वह दिन, जिस दिन मैं अकेला हुआ था—कैसे कहूं वह दिन कैसा था! वह दिन मेरे जीवनकी विजयादशमी था! जगदीश! उस दिन जो तोड़ दिया था उसको क्या फिर गढ़ सकते हो? एक बेर न तो देखा और न एक बेर पूछाही; अनुमति की भी राह न देखी, न दुखीके मुंहकी ओर ही निहारा—अपनी इच्छानुसार छीन लिया। अच्छा किया—इसके लिये दोष नहीं देता हूं—वह कार्य्य तो तुम्हारे उपयुक्त ही है। तुम महत् हो, मैं क्षुद्र हूं; तुम प्रभूत शक्तिमान् हो, मैं निर्ब्बल हूं; इस परिदृश्यमान जगत्में सब तुम्हारा ही है, मेरा कुछ नहीं, मेरा कोई नहीं; सुतरां मेरे जीवन सर्व्वस्वको, मेरे संसार बन्धनको, मेरे इस कंगालो अन्धेकी एकमात्र दुर्गीलककी छीन न लोगे तो क्या करोगे? दुर्बलको जिसने पीड़ित न किया उसका महत्व कहां? दुर्बलपर जिसने अत्याचार न किया उसकी शक्ति ही क्या? जो दीन हीन है, जिसके कोई नहीं है, जिसके विश्राम करनेको स्थान नहीं है, जिसके खड़ा रहनेकी जगह नहीं है, जिसके प्यार करनेको कोई नहीं है, जिसका भविष्यत् अन्धकारमय है, जिसका भूतपूर्व्व अग्नि समान है, अतएव अन्धकारको

अपेक्षा भी भयानक है, और जिसके वर्तमानमें उजाला वा अन्धकार कुछ भी नहीं है—केवल उज्ज्वल अन्धकारमें, केवल तामस आलोकमें दूर विस्तृत मरुभूमि धधक रही है, उसको जिसने उत्पीड़ित नहीं किया, उसको जिसने पैरोंसे न कुचला उसका महत्व काहेका—वह बड़ा किस लिये है ? करोगे ही तो ! सिंह बनके दुर्बल पशुओंको धर कर खाता है—सिंह पशुराज है। पापी यवन हमारे माको दम करते थे—यवन दिल्लीश्वर थे। और तुमतो विश्वब्रह्माण्डके राजा हो, अतएव हम लोगोंको रुलावोगे इसमें सन्देह क्या है ? जो छोटा है, अति छोटा है, क्षुद्रादपि क्षुद्र है उससे यदि "त्राहि त्राहि" के बोल न बुलवा सके तो तुम राजा कैसे ? दुर्बलको चरणसे दलित करना ही तो राजधर्म है। जो प्रतिकार नहीं कर सकता उस पर अत्याचार करना ही तो राजधर्म है। माना, परन्तु क्या कह रहा था भूल गया—

वह मुख ! हाय ! उस हृदयपूर्ण धनको हृदय खाली कर कौन ले गया रे ! संसारमें ऐसी कौनसी वस्तु है जिससे इस शून्य हृदयको पूर्ण करूं ? उस शून्य हृदयमें अखिल संसारको भर कर देखा है, समस्त मानव जातिको स्थान देकर देखा है, बहुतसा स्थान खाली रह जाता है—तब भी मुझे जान पड़ता है कि न मालूम क्या नहीं है। जगत्‌का अनन्त सौन्दर्य आंखोंके सामने पड़ा है, परन्तु उसमें न जाने क्या नहीं है। वही घरबार है, वही बाल्यकालके बन्धुगण हैं,

लीलामयी जान्हवी उसी प्रकार हिलती डोलती हंस हंस कर बह रही है,—सौन्दर्य्याभिमानिनी कामिनीकी भांति धरती पर पांव पड़नेही नहीं पाते, आकाशमें चन्द्रमा उसी प्रकार हंस हंस कर पृथिवीपर सोहाग बरसा रहा है। छोटे छोटे पक्षी वैसे ही उड़ रहे हैं। पी-कहाकी मधुर ध्वनिसे आकाश उसी तरह गूंज रहा है। सब वही हैं परन्तु मैं वह नहीं रहा—फिर भी मुझे यह बोध होता है कि न जाने क्या नहीं है। जिस ओर ताकता हूं, देखता हूं, कि न जाने क्या नहीं है; मनमें वह स्थिति-स्थापकता नहीं है, सौन्दर्य्यमें वह रमणीयता नहीं है, गन्धमें वह मधुरता नहीं है, संगीतमें वह मोहकारिता नहीं है, जगत्‌में वह वैचित्र्य नहीं है, मनुष्य-मुखमें वह देवभाव नहीं है, और हृदयमें न जाने क्या नहीं है! क्या नहीं? मेरा क्या नहीं है?

वह सुख! अब नहीं है—एक दिन था, अब नहीं है। प्रेमसे सना हुआ सुख—वह रमणीयता, कमनीयता, मधुरता, पवित्रतामय सुख—वह अमरावती-सौन्दर्य्यमय स्वर्गीय सुख—वह न जाने कैसा सुख—जिसके साथही साथ सब चला गया, वह सुख किसने हर लिया? इस विधानका क्या कोई विधाता नहीं है? इस नियमका क्या कोई नियन्ता नहीं है? यदि है तो वह अनन्त शक्तिमान् है; किन्तु बड़ाही निठुर, बड़ाही पाषाण-हृदय, बड़ा ही कठिनप्राण

है। इस जड़जगत्‌आगारमें आत्मा है वा नहीं, चिन्ता-शक्ति है वा नहीं, सो नहीं जानता। किन्तु यह मेरी दृढ़ प्रतीति है—मेरा ध्रुव विश्वास है, मैं यह निश्चय कह सकता हूं, कि इस जगत्‌-शरीरमें हृदय नहीं है। क्यों कहता हूं, सुनोगे? जगत्‌कारणको निठुर क्यों कहता हूं सुनोगे?

मैं तो यह नहीं जानता था, कि जगत्‌में ऐसा कुछ है या कुछ हो सकता है। किसने ज्ञात करानेके लिये विधाताको सिरकी सौगन्द दिलायी थी—किसने जानना चाहा था? तब क्यों जतलाया? मैं जिसको नहीं जानता था उससे मेरी पहिचान क्यों कराई? पहिचान कराई तो रहने क्यों नहीं दिया? तुम्हीने तो दी थी। फिर ले क्यों ली? यदि छीन ही लेनेको मनमें थी तो दी क्यों? दी तो ली क्यों? ली तो भूलने क्यों नहीं देते? जो कभी नहीं मिलेगी, उसके लिये रो रो कर अंधा हो जाऊं क्या यही तुम्हारी इच्छा है? वह चली गयी, उसका प्यार करना छूट गया—मेरा प्यार करना क्यों नहीं छूटता? सदा सर्वदाके लिये जिसे आंखोंकी ओट किया उसे हृदयसे क्यों नहीं निकाल बाहर करते? मैं मनमें भूलनेकी इच्छा करता हूं, पर भूल नहीं सकता। क्या यह संसारका नियम है? संसारका नियम क्या फिर आकाश होता है या पाताल? तुम्हारी इच्छा ही तो है। मनमें आनेपर सब कुछ कर सकते हो। तब संसारमें—केवल मेरी बात

भी नहीं है, इस जगत्-संसारमें इतना दुःख क्यों है—कुसुममें कीट क्यों है—चन्द्रमें कलंक क्यों है—पुण्यमें कार्याग-स्फूर्त्ति क्यों है—नरकका पथ कुसुमाच्छन्न क्यों है—सौन्दर्य विकृत क्यों होता है—मनुष्य हृदयमें नैराश्य क्यों है—मनुष्यके ललाटमें रोगशोक क्यों है—प्रणयमें विरह क्यों है—आशामें अविश्वास क्यों है—मनुष्य स्वार्थपर क्यों है—एकका दुःख दूसरा क्यों नहीं समझता—दुःखप्रकाशकी भाषा क्यों नहीं है—कलेजेमें जो बात जलती रहती है वह मुंहसे क्यों नहीं निकल सकती—स्नेह आशंकापरायण क्यों है—जो जिसको प्यार करता है वह उसे खो क्यों देता है? यदि खो देता है तो जिस दिन खोता है, उस दिन मर क्यों नहीं जाता? यह जड़ जगत क्यों है? मट्टीकी देहमें यह सुख-दुःख-समाकुल, यह स्नेह-वात्सल्य-परायण, यह शान्ति-सौन्दर्य-पवित्रता प्रिय हृदय क्यों है? इसीसे कहता हूं, यदि कोई विधाता है तो वह बड़ा निठुर है! वह किसी जीवकी शुभ-कामना नहीं करता, जीवकी भलाई देख नहीं सकता; वह दूसरेके दुःखको समझ नहीं सकता, वह निरीहका लिहाज नहीं करता, वह पांव पकड़कर रोने परभी नहीं मानता—वह बड़ा निर्दय है। वह बरबस खिलाता है, अपने आमोदके लिये हाथी*के सामने घुसाता है और मात स्वीकार करनेपर भी नहीं मानता—'नहीं खेलूंगा' कहनेपर भी नहीं छोड़ता। वह

* शतरञ्जसे तात्पर्य है।

न मालूम किस प्रकार बनी मोहरेको मार लेता है। वह न जाने किस प्रकार सात तुरुप * लेकर खेलता है। रंगका एक सत्ता लेने ही से खेल नहीं हो सकता—गत सुखको स्मृति-मात्रसे संसाररूपी खेल और नहीं खेल सकता। दुःखके दिन, सब सुख चले जानेपर, सुखकी बातोंका याद आना विड़म्बना मात्र है। इसीसे कहता हूं कि इस जगत्-शरीरमें हृदय नहीं है। तुम इच्छामय हो—इच्छा करने ही पर सुखका संसार सृज सकते थे—पर वैसा तो नहीं किया; इसीसे कहता हूं इस जगत्-शरीरमें हृदय नहीं है! यह कौन कहता है, कि संसारमें सुख नहीं है? सुखके रहने ही से तो कहता हूं—इस जगत्-शरीरमें हृदय नहीं है! संसार निरवच्छिन्न दुःखमय होता तो किसको आपत्ति थी? ऐसा नहीं है, इसीसे संसार सुखदुःखमय हो गया, अतएव कहना ही पड़ता है—इस जगत्-शरीरमें हृदय नहीं है। इस संसारको अश्रुजलसे न गढ़कर, हास्यसे न गढ़कर, हास्य-रोदनसे बनाया है, इसीलिये तो कहता हूं—इस जगत्-शरीरमें हृदय नहीं है। किन्तु कैसा भोलामन है, फिर भूल गया, क्या कहता था—

वह सुख! सन्ध्यासमीरणके झकोरोंमें वासन्तीलताके डोलनेकी तरह वह सुख—अपरिस्फुट वाक्, संसार-शिक्षा-

* तात्पर्य तासे है।

शून्य निद्रित शिशुके पवित्र अधरपर सुखस्वप्नजात मुस्कुरा-हटके खेलकी तरह वह सुख, न जाने क्या मिश्रित सुख—वह कहूंगा-कहूंगा इच्छा करनेपर भी नहीं कह सकता सुख—वह अभी है अभी नहीं, क्षणमें पाया क्षणमें खोया सुख—वह हृदयमें आता मनमें नहीं आता सुख—वह रह रह कर याद आता हुआ सुख—धरूं धरूं धर नहीं सकता सुख—हरि! हरि! किस विधाताने इस जन्मान्तरीण सुखस्वप्नमय सुखको गढ़ा था? किससे गढ़ा था? कैसे गढ़ा था? मनकी बात क्यों नहीं कह सकता? छातीके भीतर क्या धक् धक् करता है, उसे मुंह खोल कह क्यों नहीं सकता? मनकी बात सुनानेके लिये मनभावना व्यक्ति क्यों नहीं मिलता? किसे कहूं? कौन इस कहानीको ही दण्डकाल स्थिर होकर सुनेगा? मनुष्य क्या मेरा दुःख समझेगा? इसीसे तो पहले ही कह दिया कि मनमें बड़ा पछतावा रह गया।

गंगा तटपर।

कल कल कल कल—यह क्या कहती हो मा? इस स्वरको सुननेसे मेरे हृदयमें न जाने क्या होने लग जाता है, इसीसे पूछता हूं, यह क्या कहती हो मा? क्या इसका अर्थ नहीं है? तो मेरी छातीमें न जाने क्या फड़क उठता है? हृदयके गूढ़—गूढ़तम प्रदेशमें न जाने क्या डोल डोल कर क्यों उछल रहा है, उछल उछल कर क्यों डोल रहा है? हृदय यन्त्रके सब टूटे हुए तार फिर क्यों झनझना उठते हैं मा? बहुदिननिद्रित सकल सुखस्वप्न फिर अकस्मात् क्यों जाग उठते हैं मा? देहके भीतर प्राण, पिञ्जरावद्ध विहङ्गकी तरह, न जाने किसके लिये, छटपट क्यों करते हैं मा? हृतसर्व्वस्व, दीनहीन, घर नहीं जानता कहीं का भिखारी सम्मानको बता दे, ऐसा क्यों होता है मा?

उत्तर नहीं;—केवल वही कल कल कल कल! किन्तु समझ गया—बलिहारी मा!—तुम्हारे इस शब्दका इतना अर्थ है? तभी तो;—हृदयमें जिस कल कल शब्दका अनुभव करता हूं उसको कानसे सुनता हूं। दिवानिशि जो

नैराश्यपरिपूर्ण बालस्वर हृदयकी चारों ओर सन्ध्यासमीरणकी नाईं हाय हाय करता रहता है, उसीको हो हरकाल सुन-कर कान तृप्त करता हूं; जो शब्द देह खींचता है, छातीपर आता है, रग रगमें चक्कर लगाता है;—शब्द देह खींचता है!—शब्द आंखोंसे दीखपड़ता है—यह कैसी प्रहे-लिका है? अहा! हा! हा! हंसी भी आती है—दुःख भी होता है—फिर वही कल कल ध्वनि!—तभी तो मा, जो इस सीधी सादी बातको नहीं समझ सकता, तो तुम्हारे इस कल कलका अर्थ, तुम्हारे इस कल कलकी महिमा कौन समझता? परन्तु जिसने समझा है—वह तर गया है।

किन्तु, यह राग कौनसा है, मा? जो तुम सीधे सादे तौर पर गाती हो—श्रान्ति नहीं—विराम नहीं—जो तुम गाती हो—जो तुम रात दिन गाती हो—जो सुनने वाला न रहने पर भी गाती रहती हो—वह कौनसी रागिनी है, मा? यह क्या दिव्य संगीत है? स्वर्गका गाना क्या इसी तरहका होता है? क्या ऐसेही अमृत उंडेलकर कान भर दिये जाते हैं—क्या ऐसे ही माधुर्य्यसे कलेजा भर दिया जाता है? तब तो मा! एक बार स्वर्ग देखूंगा। क्या, दिखला-वेगी? तू पतित पावनी है—अधम सन्तानको क्या स्वर्ग न ले जायगी? बोल मा—ले जायगी कि नहीं, बोल!

फिर वही कल कल! ठीक है, मा—यही तो स्वर्ग है—ठीक है; किन्तु मुझे लेगी किया न? नहीं, तभी तो

माना—इससे अधिक स्वर्ग और क्या होगा? शिरपर यह चांद, सामने तू, रजनी-सुन्दरीको यह मुस्कुराहट, तुम्हारे जलमें नक्षत्रोंका यह नृत्य, तुम्हारे तीरस्थ लताओंका यह झूमना और वायुका यह खेल—वृक्ष-पत्तोंके साथ वायुका यह खेल; पर-रता लताके साथ वायुका यह खेल; तुम्हारे इस रवके ऐसा उस लताके फूलोंका वायुके साथ खेल—इससे अधिक स्वर्ग और क्या होगा!

कल कल कल कल—तो मा, मैं आता क्यों हूं? क्यों ऐसी भयावनी रातमें तुम्हारे तटपर बैठकर रोनेके लिये आता हूं! क्यों आता हूं, सुनेगी? तेरे सिवाय और कोई दु:ख की बातें सुनना ही नहीं जानता—एक बातको इक्कीस बार सुनना कोई नहीं जानता। लोग अपने अपने शोकाभार को भी नहीं सह सकते; इसीसे मा, पराया दु:ख सुननेकी कोई भी इच्छा नहीं करता। मनुष्यके प्रति मनका दु:ख प्रकाश करना अपना दौर्ब्बल्य प्रकाश करना है, केवल उपहासास्पद होना है, इसीसे मा, तेरे तीर सञ्चारी वायुके साथ अपना दीर्घ निश्वास मिलानेके लिये आता हूं। पराई पीड़ा कोई नहीं समझता, इसीसे मा, तेरे जलसे अपने अश्रुजल मिलानेके लिये आता हूं।

और मा, यहांपर मेरी एक वस्तु खो गयी है। यह जो तट-ज्योत्स्ना शैय्यापर निद्रित है, वहीं पर मेरा एक सर्वार्थ-सार रत्न खो गया है। हृदय बिछाकर, हृदयके भीतर,

हृदय ही से ढककर उस रत्नको रखा था। अकस्मात् यहीं पर कहीं एक दिन गिर पड़ा। उसीको ढूंढ़ने आता हूं, किन्तु पाता नहीं, तो भी ढूंढने आता हूं—मेरा अबोध मन, मेरा दीवाना दिल नहीं मानता। समझानेकी कितनी चेष्टायें कीं, किसी तरह समझना नहीं चाहता; समझ कर भी नहीं समझता, उसे कैसे समझाऊं? कितने दर्शन-विज्ञान खोल कर, कितने काव्य-अलंकार खोलकर, मनको व्यापृत रखना चाहता हूं—मन अबाध्य है, मुंह फिर कर बैठ जाता है। तब उस समयकी प्रेम-लिपियां खोलकर पढ़ने बैठता हूं; किन्तु आंखें भर आती हैं, अक्षर दीख नहीं पड़ते। फिर आंखें पोंछकर पढ़ने बैठता हूं, फिर जल भर आता है—पढ़कर सुख नहीं होता। जिसने वे लिपियां लिखी थीं वह उत्तम लिखना-पढ़ना नहीं जानती थी—कहीं पर भी रचना-चातुर्य नहीं, भाव पारिपाट्य नहीं, शब्दविन्यास-कौशल नहीं—किन्तु जो है वह और किसीमें नहीं है; जिससे लोग मुग्ध हों वैसा कुछ भी नहीं है, जिससे लोग विरक्त हों उसकी ढेर लगी हुई है—तिसपर भी समस्त संस्कृत साहित्यका कवित्व उसकी एक पंक्तिके बराबर भी नहीं है। उस लिपिकी प्रत्येक पंक्तिमें प्रत्येक शब्दमें प्रत्येक अक्षरमें, प्रत्येक मात्रामें, प्रत्येक वर्णाशुद्धिमें प्रत्येक व्याकरणाशुद्धिमें, प्रत्येक भ्रममें प्रत्येक मसिबिन्दुमें वह कवित्व

भरा है जो "वीरांगना" * में नहीं, "पलाशीरयुद्ध" † में नहीं, "वृत्र-संहार" ‡ में नहीं, "मेघनाद वध" में नहीं, "पद्य कल्पतरु" में नहीं, "उत्तर राम-चरित" में नहीं, हेम्लेट्" § में नहीं, "ओथेलो" में नहीं—"इलियद" ¶ में नहीं, "इनियद" में नहीं "कुमारसम्भव" में नहीं—वह, स्वाफीर संगीतमें नहीं, भैरवी रागिनीमें नहीं, वासन्ती-पवनमें नहीं—वह अतुलनीय है। पढ़ते पढ़ते वह तट याद आ पड़ता है—मन उदास हो जाता है। न मालूम कैसी वंशी-ध्वनिसी सुनाई पड़ती है, कि फिर घरमें ठहर नहीं सकता। दौड़ कर यहां आता हूं। आकर जलमें ढूंढ़ता हूं, थलमें ढूंढ़ता हूं किन्तु केवल ढूंढ़ता ही हूं—ढूंढ़ता हूं पर उसे पाता नहीं। तब फिर गालपर हाथ रखकर रोने बैठता हूं।

रोदन करना क्या दौर्बल्य है? तो मा! तुम कल कल कर क्यों रोती हो? तुम देवबाला हो, फिर तुम्हारे लिये सुख-दुःख क्यों? तो मा, क्या तुम मनुष्यके अनन्त दुःखसे

---

* वीरांगना और मेघनाद-वध बंगभाषाके प्रतिभाशाली, कवि-शिरोमणि माइकेल मधुसूदन दत्तके सर्व्वोत्कृष्ट ग्रन्थद्वय हैं।

† पलाशीर युद्ध—बंगभाषाके लब्धप्रतिष्ठित वीर कवि नवीनचन्द्र सेनका सर्व्वोत्तम ग्रन्थ है।

‡ वृत्र-संहार—बंगभाषाके यशस्वी कवि हेमचन्द्र बन्द्योपाध्याय का सर्वोत्तम ग्रन्थ है।

§ हैमलेट् और ओथेलो—अंग्रेजीके महाकवि शेक्सपीयरके दो नाटक हैं।

¶ इलियद और इनियद—यूनानके प्राचीन महाकवि होमरके ग्रन्थ हैं।

दुःखिनी होकर रोती हो? यही बात है; जो परायेके लिये रोना जानता है, जो पराई व्यथाको अपने हृदयमें अनुभव करता है, जो पराई व्यथाको अपनी व्यथा समझता है, वही देवता है। मनुष्य अपने लिये रोता है—देवता दूसरोंके लिये रोते हैं। मनुष्य जिस दिन परायेके लिये रोना सीख जाता है उसी दिन देवत्व प्राप्त करता है। और मा, जिससे ऐसी आत्मविसर्ज्जनकी शिक्षा मिलती है, वही देवता है। परहितव्रतका जो उपदेश देता है, वही देवता है। ईसाने जिस समय कहा—"दूसरेसे तुम जिस बर्ताव की आशा रखते हो, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करो"—तभी मालूम हुआ, कि ईसा सच्चा ज्ञानी है। वही ईसा जब फिर बोले—"अपने शत्रुको भी प्यार करो!"—तभी जान लिया, कि ईसा देवता हैं। ऐसी अनूठी उक्ति जिसके मुंहसे निकली है, वह वास्तवमें ईश्वर-पुत्र है, देवता है, मनुष्यका त्राणकर्त्ता है। ईसाके बहुत पहले शाक्यसिंहने भी ऐसी ही बात कही थी। * इसीसे वह बुद्धदेव कहलाये।

* M. Barthelemy Saint Hilaire following the example of Burnouf, Lassen and Wilson, fixes the year 543 B. C. as the date of Buddha's death, Max Muller places it in 477 B. C.

See Max Muller's "Chips from a German Workshop."

कोम्तने भी यही बात कही थी—कोम्तको यदि कोई देवता चाहे, तो मैं आपत्ति नहीं करूंगा। और मा, तुम दिवारात्रि दूसरोंके लिये रोती रोती सनातन-धर्म्मका यह उपदेश देती हो; इसीसे मा, तुम पतित-पावनी अधमतारिणी हो, तुम मृत्युञ्जय शिर-विहारिणी हो। जो देवादिदेव हैं—जिनकी अङ्गस्खलित चिताभस्मरजको मस्तकपर रखकर देवतागण भी कृतार्थ होते हैं, उनके शिरपर तुम्हारे सिवा और कुछ भी शोभा नहीं पाता, क्योंकि तुम अहोरात्र दूसरोंके लिये रोती रहती हो। दूसरोंके लिये रोना जानती हो इसीसे तुम्हारा जलस्पर्श करनेसे पाप क्षय होता है, तुम्हारे जलमें अवगाहन करनेसे स्वर्ग मिलता है, तुम्हारे तीर पर मरनेसे मुक्ति होती है। तुम्हारे तीरपर मरनेसे जो मुक्ति होती है, उसमें कौन मूर्ख सन्देह करता है? जो सन्देह करता है, जो तुम्हारी पवित्रताको समझता नहीं वह मूर्ख नहीं तो क्या है? उसमें बुद्धि नहीं, ज्ञान नहीं, सहानुभूति नहीं, पवित्रता नहीं, धर्म्मबोध नहीं—वह पोनी ढोनेवाले बैलके समान है। प्राचीन आर्य्य-ऋषियोंको हृदय था, सर्व्वतत्वानुसन्धायिनी बुद्धि थी, सर्व्वतत्वभेदिनी प्रतिभा थी, वे तुम्हारे कल कल रवका अर्थ समझते थे; इसीसे पवित्र हिन्दूशास्त्रोंमें तुम्हारी महिमाका इतना कीर्त्तन पाया जाता है। हमलोगोंमें बुद्धि नहीं, वैसी लीलामयी कल्पना नहीं, वैसी सर्व्वभेदिनी प्रतिभा नहीं, जड़-जगत्से वैसी

सहानुभूति नहीं, वैसा कुछ भी नहीं—हम लोग तो ह्रस्व-दीर्घ-बोध-विवर्जित लण्ठ हैं। इसीसे मा, तुम्हारी पवित्रता, तुम्हारी महिमा, तुम्हारा माहात्म्य जानता नहीं। तुम्हारे दर्शनमात्र से स्वर्गीय सुख पाता हूं, तो क्या तुम्हारे तीर पर मरनेसे स्वर्गलाभ नहीं होगा? किन्तु कैसा भोला मन है, क्या कहता था, भूल गया—

मा! एकबार स्वर्ग देखूंगा! स्वर्गके सुखके लिये ऐसा नहीं कहता; क्यों नहीं, जिसके हृदयके तह तह (Layer) में नरकानल धधक रहा है, जिसके मनमें सुख नहीं, उसको स्वर्गमें भी सुख नहीं—स्वर्गके सुखके लिये नहीं, केवल हृत-धनके अनुसन्धानके लिये। समस्त संसार छान डाला, कहीं वह धन नहीं मिलता, इसलिये एकबार स्वर्गमें भी ढूंढूंगा—एकबार देखूंगा, कि नन्दनवनमें वैसा फूल खिलता है वा नहीं। तुम्हारे जलमें चन्द्ररश्मिके नृत्यकी नाईं सुकुमार, निदाघ-सायान्ह-गगन-वत् कोमल, प्रणयिनीके प्रथम सप्रेम आलिङ्गनकी नाईं सुखमय, परदुःखकातर मानव-हृदयकी नाईं पवित्र, जो कुसुम इस अधमके गृह-कुञ्जमें खिला था, देखूंगा, कि वह देवोद्यानमें खिलता है वा नहीं। जो सागरसंचित अमूल्य रत्न इस दरिद्रकी झोंपड़ीमें था, देखूंगा —वैसा रत्न देवराजभवनमें है कि नहीं। जिस संगीतको रातदिन कान देकर अतृप्त हृदयसे सुनता ही रहता था— जिस संगीतको अब केवल इस नींदभरी मतवाली चांदनीमें

देखता हूं—जिस संगीतका इस स्वप्नमय मृदुपवनमें अनुभव करता हूं, सुनूंगा—वैसा संगीत अमरावतीमें होता है वा नहीं। एक दिन—हाय कहां गया वह दिन!—ज्यों ही शिर उठाकर देखा तो सूझ पड़ा कि वही संगीत आंखोंपर झलमला रहा है *। अब वे दिन न रहे; उस वीणाने चिरकालके लिये चुप्पी साध ली, वह कण्ठ चिरकालके लिये निस्तब्ध हो गया—तो भी वह संगीतध्वनि आज भी मानो कानोंमें बस रही है—उस संगीत की लय आज भी हृदयमें बनी हुई है। संगीतको देखना कैसा? मनुष्य-सौन्दर्यमें संगीत कैसा? अरे राम! राम! तो झूठमूठही बकता रहा! मेरा दुःख तुम लोग नहीं समझोगे, मेरे इस हृदयका पागलपन तुम लोगोंको अच्छा न लगेगा। मेरी बात कितने लोग समझेंगे? जो अपने दिलके टुकड़े टुकड़े कर, अपने प्राणके प्राणोंको भी खोकर छातीपर पत्थर रखकर जीवित है, उसके अतिरिक्त मेरी बात और कितने आदमी समझेंगे? केवल स्मृतिके सहारे जिसका प्रणय सजीव रह सकता है, उसके अतिरिक्त मेरी बात और कौन समझेगा? जिसकी प्रीति शावकहीना विहंगीकी तरह श्मशानभूमिके चारों ओर भटकती फिरती है, उसके अतिरिक्त मेरी बातको कितने लोग समझेंगे? जिसका प्रणय-प्रदीप नैराश्यके

* The mind the music breathing from her face.
—The Bride of Abydos.

निर्ब्बात कन्दरमें भी नहीं बुझा, उसके सिवाय और कितने लोग मेरी बात समझेंगे? जिसका प्रणय नास्तिकको भी परलोकके अस्तित्वका विश्वास दिला सकता है—तर्क-युक्तिको ठोकरें मार कर, शरीरसे मनको पृथक कर सकता है, उसके सिवाय कितने लोग मेरी बात समझेंगे? जो कवि न होनेपर भी संसारके शोक तापसे, विरह-यातनासे, नैराश्य-कातरतासे मतानुसरणके विषकी ज्वालासे कवि हो उठा है, उसके अतिरिक्त मेरे इस अनाप-शनाप प्रलापका अर्थ कितने लोग समझेंगे? किन्तु—

बलिहारी मा! क्या ही शोभा फैला रही हो!—बलि-हारी है! एक छोटीसी लहर मारे अभिमानके चली जा रही है, और दूसरी एक वैसी ही छोटी लहर मानो उसको मना कर लौटानेके लिये उसके पीछे पीछे दौड़ रही है—इनके पीछे असंख्य छोटी लहरें, निकम्मे लोगोंकी तरह इस अभिमानका परिणाम रहस्य देखनेके लिये झुण्ड बांधकर दौड़ी जा रही हैं—प्रत्येकके सिर पर मोती चमक रहे हैं। नारसिसस * की नाईं अपने ही सौन्दर्यपर मुग्ध होकर चन्द्र-देव सैकड़ों बार तुम्हारे स्वच्छ जलमें अपना मुंह निहार रहे हैं और हंस हंसकर लोट पोट हो रहे हैं—मारे प्रसन्नताके फूले नहीं समाते! यही तो सर्व्वनाशकी जड़ है, यहीं

---

* नारसिसस—यूनानकी एक पौराणिक पुरुषका नाम है। वह अपनी सुन्दर-ताके [illegible] सदा देखती थी।

सम्पूर्ण अनर्थों का मूल है मा! यही तो मुझे रुलाता है। उसकी यह मुसकान और उसका यह आह्लाद देखकर तो मर जानेकी इच्छा होती है। उसको देखनेपर मेरे हृदयमें नजाने क्या, नजाने कैसा होता है। यह शशाङ्क, स्नेह-परिपूर्ण निष्ठुरता सहित, निष्ठुरतामय आदर सहित, अमृतमय गरल और गरलमय अमृतसे मानों हृदयको भर देता है। बहुत दिनोंकी बुझी हुई आग मानों फिर सुलग उठती है। उससे दग्ध हृदय और भी दग्ध हो जाता है, तिसपर भी कुछ सुखसा मिलता है। जब दुःखके झकोरोंसे मन त्राहि त्राहि करता है, तब थोड़ा रोनेसे—जब कोई देख नहीं सकता, कोई सुन नहीं सकता—निर्ज्जन स्थानमें निर्भय हो कर इच्छानुसार मन भर रोनेसे जैसा सुख होता है, मानो वैसा ही कुछ सुख मिलता है। गभीर दुःखके साथ आनन्द—श्मशानमें मानो फूलों की माला, चिर निर्वासितके कानोंमें मानो बाल्यसंगीत, सुखावसानमें मानो सुखस्मृति, चिरविरहीको प्रियतमाकी मानो प्रेम लिपि—क्या जाने कैसा थोड़ासा सुख मिलता है। इसीसे चन्द्रदेव! तुम्हें इतना प्यार करता हूं; इतना अत्याचार करते हो, इतना रुलाते हो, इतना नेस्तनाबूद करते हो, इतना खानाखराबी करते हो, तिस पर भी इस थोड़ेसे सुखके लिये तुम्हें बहुत प्यार करता हूं। यदि तुम अपने इस कलंकको पोंछ डालो तो तुम्हें और भी प्यार करूंगा। यदि ऐसा हो जाय, तो

तुमको देखकर जिसकी सुध आजाती है उसका एक मन-समझौता उपमास्थल मिले। ऐसा हो जाय तो प्रतिदिन इस निभृत स्थानमें बैठ कर तुम्हें ही देखता रहूं—जिसको और कभी नहीं देख सकूंगा, उसको हृदयकी आंखों से देखनेके लिये सदा तुम्हें देखा करूं।

तो मैं इतना रोता क्यों हूं मा? क्यों रोऊं? ऐसा कौनसा महापातक किया है, ऐसा कौनसा गुरुतर अपराध किया है, किसका खेत काटा है, किसका सर्व्वनाश किया है, जिसके लिये सदा रोकर मरूं? मेरा अपराध क्या है, मा? विधाताने किसी एकको सुन्दर बनाया था और मुझे सौन्दर्यका भिखारी बनाया था इसीसे, मा! क्या मुझे दिन-रात रोना पड़ेगा? जिस जिस वस्तुसे मेरा अनुराग है, जो जो वस्तुयें मेरी आंखोंमें बड़ी सुन्दर जचती हैं, जिस जिस वस्तुको मैं प्यार करता हूं उन सबको विधाता ने एकहीमें एकट्ठा कर दिया था, और मुझको विधाताने अन्धा * नहीं बनाया; इसीसे मा! मैं श्रावणके मेघ की तरह निरन्तर आंसुओंकी झड़ी लगाता रहूं? विधाताने जिसको सौन्दर्यानु-रागी बनाया है, वह सौन्दर्यानुरागी होनेके कारण—जिसको पवित्रताप्रिय बनाया है वह पवित्रताप्रिय होनेके कारण,

* "That thou wert beautiful and I not blind,
Hath been the sin which shuts me from mankind."
—The Lament of Tasso.

क्या रो मरेगा? जो सुन्दर था, उसको प्यार किया इस लिये—जिसने मुझको इस पृथिवीपर स्वर्गीय सुखका अनुभव कराया था उसको प्यार किया इस लिये क्या मैं रो मरूंगा? क्यों मा! मेरा अपराध क्या है, मा! जिसने उस चन्द्रमुखको गढ़ा था, दोष उसका है वा मेरा? यह तुच्छ हृदय जिसने गढ़ा था दोष उसका है वा मेरा? एकके अपराधके लिये दूसरा क्यों दण्ड पाता है, मा? जो सुन्दर है उसको प्यार करना क्या पाप है? ऐसा तो नहीं है। विधातः! कौन मूर्ख तुमको जीवमङ्गलव्रती कहता है? कालसर्पको इतना सुन्दर क्यों बनाया था? सर्व्वनाशको आकृति इतनी मधुर क्यों थी?

क्यों मा? ज्ञानहीन अधम सन्तानको समझा दे मा! संसारमें इतना अविचार और इतनी निठुरता क्यों है? इसका एक मात्र उत्तर यही है—इस रचना का जो रचयिता है वह या तो इच्छापूर्व्वक जीवको दुःख देता है, या जिस कार्यकी इच्छा करता है उसे पूर्ण नहीं कर सकता—वह या तो निठुर है या अपूर्ण है। उसको निठुर कहनेकी इच्छा न हो तो निठुर मत कहो। परन्तु ऐसा होनेपर यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि उसके ऊपर ऐसा और कोई है जिसके प्रभावसे उसकी इच्छा कार्य्यरूपमें परिणत नहीं होने पाती। उसके प्रभूत शक्तिमान् होनेमें सन्देह ही क्या है? पर वह सर्व्वशक्तिमान् नहीं है। *

* See John Stuart Mill's, "Three Essays on Religion."

जी हां, यह अवश्य समझता हूं, कि संसार दुःखमय है। यह समझता हूं, कि इस संसारसे सम्बन्ध रखने का फल दुःख ही है। इस जगत्‌मे जिसकी संगति होगी वही दुःखमय हो जायगा। सूर्य्यालोक पृथिवी पर आते ही छायायुक्त हो जाता है। निशारूपसीके कवरी भूषण नक्षत्रगण कैसे स्निग्धोज्वल-सौन्दर्य्य विशिष्ट हैं, किन्तु उनमेंसे किसी एकके टटकार पृथिवीपर गिरनेसे लोग अमंगलकी सम्भावना करते हैं। इस जगत्‌की मृत्तिकासे तुम्हारा सम्बन्ध हुआ है, इसलिये तुम्हें काल काल रवकार रोना पड़ता है। संसारसे मेरा भी सम्बन्ध है, इसलिये मैं भी रोता हूं। रोना ही संसारका नियम है, हास्य तो यहां का व्यभिचार मात्र है! जो मुग्ध चित्त है, वही हंसता है, जो कुछ समझता नहीं है, वही हंसता है; जो मग्न है, वही हंसता है—क्योंकि मग्नता प्राक्तिमद लाती है। और जो चिन्ताशील है, वही दुखी है; जो संसारको चीन्हता है, वही रोता है। हम लोग जन्म लेते ही रोते हैं—और उस दिन जो गीत निकला था, वह इस जन्ममें भूलने वाला नहीं। कई बार विचारता हूं, कि मनुष्य-जन्म किस लिये है? कोई बता नहीं सकता किस लिये है? मुझको तो जान पड़ता है कि रोनेके लिये ही मनुष्य जन्म है।

तो मा! रोना क्या दौर्बल्य है? मैं तो इतना रोता हूं मैं क्या दुर्बल हूं? रोना दौर्बल्य नहीं है, किन्तु मैं दुर्बल

हूं। दुर्योधन शत्रु था, तब भी भीमने जब उसके मस्तक पर लात मारी तो युधिष्ठिर रोये थे—युधिष्ठिर धर्मपुत्र थे। ईसा मनुष्य जातिके दुःखसे दुखी होकर रोये थे—ईसा ईश्वरपुत्र थे। रामचन्द्र रावणके लिये रोये थे—रामचन्द्र विष्णुके अवतार थे। शाक्यसिंह मनुष्य जातिके दुःखके लिये रोये थे, मनुष्यके दुःख निवारणके लिये सर्व्वत्यागी हो गये थे—राज्यको छोड़कर, मातापिताको छोड़ कर, प्रणयिनी स्त्रीको छोड़कर, सन्यासी हो गये थे—शाक्य-सिंह बुद्धदेव थे! पृथिवीका प्रायः तृतीयांश उनका उपासक है*। इसीसे तो कहता हूं रोदन करना दौर्बल्य नहीं है। जो कभी नहीं रोता वह नीच है। तब मैं रोता हूं इस लिये दुर्बल क्यों हूं? उनके रोदनमें और हमलोगोंके रोद-नमें प्रभेद क्या है? प्रभेद बहुत है! वह लोग दूसरोंके लिये रोये थे इसलिये उनके नाम प्रातःस्मरणीय हैं; मैं अपने ही लिये रोता हूं, अतएव मैं क्षुद्र हूं, मैं दुर्ब्बल हूं, मैं सामान्य हूं। मेरे रोदनमें स्वार्थपरता भरी हुई है इसीसे मैं रोना

---

* Berghaus, in his physical Atlas, gives the following division of the human race according to religion.

Buddhists	31·2 per cent	Brahmanists	15·4 per cent
Christians	30·7 ,,	Heathens	8·7 ,,
Mahomedans	15·7 ,,	Jews	0·3 ,,

Vide Max Muller's "Chips from a German Workshop"

जाननेपर भी दुर्बल हूं। मैं अपने सुखके अवसान होनेपर रोता हूं, इससे मैं दुर्बल हूं ; मेरा प्रणय स्वार्थपर है इसलिये मैं दुर्बल हूं। वह चली गई ; संसारको—इस शोकतापपूर्ण संसारको—इस हाहाकारमय संसारको छोड़कर चली गई। उसको आराम मिल गया—वह चिरकालके लिये शान्ति उत्सर्गमें स्वप्न-विहीन निद्राभिभूत हुई है—उसको आराम मिल गया ! उसको जान बची और ब्रह्माका भी कष्ट छूटा ! जहां वह गई है, वहां अत्याचार नहीं है, विपद नहीं है, दु:ख नहीं, विच्छेद नहीं ; वहां सब अच्छे हैं, सब सुन्दर हैं, सब पवित्र हैं ; तब मैं रोता क्यों हूं ? यदि मेरा स्नेह विशुद्ध होता, यदि मैं अपनेको भूलकर प्यार करना होता, तो उसके मरनेपर सुखी नहीं होता तो दुखी भी नहीं होता। ऐसा तो नहीं हुआ ; उसका दृष्टान्त आठों पहर बत्तीस घड़ी आंखों पर देखकर भी अपनेको नहीं भूलता, इसीसे तो मैं सामान्य हूं। जो दूसरेके लिये अपने आपको नहीं भूलता, वही दुर्बल है, वही सामान्य है, वही क्षुद्र है। जो भूलता है, वही महत् है, वही धन्य है, वही प्रात:स्मरणीय है। मैं इस दौर्बल्यका विनाश करना चाहता हूं,—परन्तु कर नहीं सकता, मा ! विचारता हूं कि अब अपने लिये नहीं रोऊंगा—पर मूर्ख मन मानता नहीं, मा ! सोचता हूं कि मनुष्य जातिको हृदयमें स्थान दूंगा ; मनुष्य जातिके लिये, पशु, पक्षी, कीट, पतंगके लिये अपनेको भूल जाऊंगा—वैसी प्रशस्तचित्तता नहीं है, मा !

कल कल कल कल—तुम यह गीत गा रही हो। वायु क्या कह कहकर तुम्हारे तीर पर घूम रहा है? तीरस्थ वृक्ष शाखारूपी हाथोंका हिला हिलाकर सिर झुका झुका कर क्या कह रहे हैं? तटवलम्बिनी लहरी ठहर ठहर कर हिलने लगती हैं। सब हीके भाषा है क्या, मा? है क्यों नहीं! हमलोगोंमें मर्मभेदिनी प्रतिभा नहीं है, अतएव हमलोग समझते नहीं हैं। परन्तु मैं आज समझ रहा हूं। तुम्हारे सलिल-शीकरवाहि-समीरणस्पर्शसे दिव्यकर्ण प्राप्त हुए हैं। तुम्हारे तीरपर सैकतासनपर बैठ कर दिव्यज्ञान पा गया हूं, इसीसे आज स्थावर जङ्गमकी बातें समझ रहा हूं। लता कहती है—देखो, अनन्त नील विस्तृतिमें यह सुन्दर चांद, पुण्यसलिला यह जाह्नवी, दक्षिणी पवनका यह हिलोल, देखो!—मैं सुखी हूं, इसीसे झूल रही हूं। क्योंकि जो सुखी होता है, वही चंचल रहता है, वही अस्थिर रहता है। वायु कहता है—देखो, क्या राजोद्यानमें, क्या दुर्गम अरण्यमें, जहांपर कोई फूल खिलता है, मैं तुम लोगोंके लिये उसकी सुगन्ध वहन करता रहता हूं—मुझे कोई लाभ नहीं तो भी दूसरेका बोझ सिर पर लिये फिरता हूं—जो लेने नहीं आता उसके घर पर जाकर दे आता हूं—अतएव निःस्वार्थ परहितव्रत ही परम धर्म है। वृक्ष कहता है—देखो, जो मुझको काटने आता है, उसको भी छाया दान देनेसे मैं विमुख नहीं होता—अतएव शत्रुसे स्नेह करना ही

प्रकृत सहृत्व है। जो मित्र है, उसको कौन प्यार नहीं करता? और मा, तुम कहती हो—देखो, मैं रोती हूं: मुझको सुख दु:ख नहीं है—केवल तुम लोगोंके लिये रोती हूं, क्योंकि मैं तुम लोगोंको प्यार करती हूं, और जो प्यार करता है, वही रोता है। किन्तु मेरे रोदनका परिणाम है। मैं स्नेह लुटाते लुटाते अनन्त सागरमें जा मिलती हूं; उस समय भी मैं—मैं ही रहती हूं; तुम लोगोंके प्रति जो अपार स्नेह है वह अक्षुण्ण रहता है, केवल स्नेहजनित रोदन नहीं रहता—केवल काल काल नहीं रहता—अतएव स्नेहको अनन्तविस्तृति गत करना ही परम पुरुषार्थ है। समग्र मानवजातिसे स्नेह करना ही स्नेहका प्रकृत सुख है, क्योंकि इस प्रणयमें विरह नहीं है—एक चला गया है; उस शून्य सिंहासनपर यदि किसीको स्थान दूं तो वह भी जा सकता है, किन्तु मनुष्य जाति तो कहीं भी न जायगी—व्यक्ति विशेष मर सकता है, परन्तु मनुष्य जाति तो कदापि नहीं मरेगी। यदि मर भी जाय तो मुझे यह देखना नहीं पड़ेगा। इसीसे कहता था, कि इस प्रणयमें विरह नहीं है। तभी तो—मैं एकको प्यार करता था इसीसे मैं दुखी हूं। यदि समग्र मानवजातिको अथवा समस्त भारतवर्षको अन्तत: समस्त बंगदेशको हृदयमें स्थान देता, तो भी इतना रोना नहीं पड़ता—स्नेहजनित सुख रहता पर स्नेह जनित दु:ख नहीं रहता। मा!

समझ गया, तुम पतितपावनी हो, तुम अधमतारिणी हो, तुम्हें स्पर्श करनेसे पवित्रता आती है, तुम्हारे तीर पर वास करनेसे मुक्ति होती है, जो धर्म सीखना चाहता है वह तुम्हारे निकट आता है; जो ज्ञान लाभ करना चाहता है वह तुम्हारे निकट आता है। जो सुखका भिखारी है वह तुम्हारे निकट आता है। तुम सर्वसुखप्रदायिनी हो, सर्वार्थ-साधिका हो—तब मुझे एक भिक्षा दे मा! यदि फिर कभी मनुष्य जन्म हो, ईश्वर न करे ऐसा हो, किन्तु फिर कभी भी मनुष्य जन्म हो तो तुम्हारे ही तीर पर जन्म ग्रहण करूं—अन्यत्र चक्रवर्त्ती राजा होनेकी अपेक्षा तुम्हारे तट पर कीटानु-कीट होना ही उत्तम है। किन्तु, श्रीचरणोंमें प्रणाम कर आजके लिये विदा होता हूं, मा!—बड़ी नींद आती है।

प्राणोंका व्यवसाय।

क्या प्राणोंका व्यवसाय नहीं हो सकता? सब वस्तुओंका व्यवसाय होता है, प्राणोंका नहीं हो सकता? कभी व्यवसाय-वाणिज्य सीखा नहीं—यह पापी भारतीय जन्म कैसे पवित्र होगा? आजकल बहुतोंका यह विश्वास हो गया है, कि व्यवसाय नहीं करनेसे भारतवासियोंका उद्धार नहीं होगा। उनकी उन्नति क्यों नहीं होगी? प्राचीन भारत कैसे बड़ा हुआ था? यह नहीं कहता कि प्राचीन भारतमें वाणिज्य था ही नहीं। था,—परन्तु बहुत कम था! प्राचीन रोम किस प्रकार उन्नत हुआ था? मुसलमान किस प्रकार बड़े हुए थे? नहीं तो; किसी एक विषय पर प्रधान लक्ष्य होनेसे ही हुआ। परन्तु तुम्हारा हमारा लक्ष्य होनेसे ही काम नहीं चल जायगा; तुम्हारा हमारा लक्ष्य न होनेसे ही काम चल जायगा सो भी नहीं—जातीय लक्ष्य होनेसे ही काम चलेगा। इसमें हम तुम नहीं भी रह सकते हैं। व्यवसायमें जैसा है, इसमें भी वैसा ही है। वाणिज्य-प्रधान देशोंमें सब कोई वाणिज्य नहीं करते। भारत ज्ञान और धर्मको लक्ष्य कर बड़ा हुआ था। इससे यह सिद्ध नहीं होता है, कि प्राचीन भारतमें मूर्ख नहीं थे; अधा-

न्धिक नहीं थे। किन्तु बड़ा होकर और भी बड़ा क्यों नहीं हुआ? उज्ज्वल प्रभातके बाद उज्ज्वलतर मध्यान्ह क्यों नहीं हुआ? प्रातःसूर्य्य प्रातहीमें अस्तमित क्यों हो गया? जाति भेद रहनेके कारण "ज्ञान" केवल ब्राह्मणों ही के हिस्से में पड़ा—अतएव जातीय लक्ष्य नहीं हो सका। ब्राह्मण बड़े हुए, भारतका अधःपतन हुआ। जब तक सम्प्रदायोंका लोप नहीं होगा; जब तक समग्र भारत-सन्तान एक सम्प्रदायमें नहीं आ जायंगी, तब तक भारतका प्रकृत मङ्गल नहीं होगा। रोम आधिपत्यको लक्ष्यकर बड़ा हुआ था, मुसलमान धर्म्म-प्रचारको लक्ष्य कर बड़े हुए थे, कार्थेज रुपयेको लक्ष्य कर बड़ा हुआ था और इंगलैंड भी रुपयेको ही लक्ष्य कर बड़ा हुआ है। भारतकी प्रत्येक वस्तुमें दर्शनशास्त्र एवम् धर्मभाव दीख पड़ता है। प्रत्येक हिन्दू रमणी, मृत्युके पश्चात् आत्माकी अवस्था पारम्पर्य्यकी समालोचना करनेमें समर्थ है। प्रत्येक हिन्दू सन्तानको, दिन देखकर घरसे यात्रा करनी पड़ती है, घरकी लक्ष्मी घरमें लानेके लिये शुभदिन देखना पड़ता है, आहार करनेके पहले और आहार करते समय देवाराधना करनी पड़ती है; चिट्ठी भी लिखी जाय और दूकानका जमा-खर्च भी किया जाय तो आरम्भमें आराध्य देवताका नाम लिखना पड़ता है; सोनेके समय ईश्वरका नाम लेकर सोना पड़ता है; बिछौनेसे उठते समय ईश्वरका नाम लेकर उठना पड़ता है; सन्तानका नाम देवताके नामपर रखना पड़ता है; गौरी

दानका फल होगा, यह सोच अपरियातवयस्का कन्याको अयथा विवाह शृंखलमें बांध देते हैं। रोमकी जो वस्तु देखो जाय, उसीमें तलवारकी धारका प्रभाव एवम् रुधिरकी धाराके लक्षण दीख पड़ेंगे। इङ्गलैंडकी अस्थिमज्जामें शेल्-लैक * एवम् लेक-डाई † घुसे हुए हैं। हम लोग अंग्रेजोंके शिष्य हैं, अतएव रुपयेको लक्ष्यकर बड़ा होना चाहते हैं, रुपयेको ही जीवनका सार-सर्वस्व समझना चाहते हैं। क्यों, क्या और कोई लक्ष नहीं है? यदि कहो, कि अब वे दिन नहीं हैं—अंग्रेज व्यवसायी हैं, अंग्रेज बड़े हैं; हम लोग व्यवसायी नहीं हैं, हम लोग छोटे हैं। इसका उत्तर है। अंग्रेजोंके वाणिज्यकी तरह किसीका वाणिज्य नहीं है। इसीसे कहता हूं, कि जातीय उन्नति अवनति जातीय एकाग्रता पर ही निर्भर है। जिस जातिकी जिस ओर स्वाभाविक प्रबलता है, वह जाति उसी पथपर उन्नति लाभकर सकती है। हम लोगोंमें जातीय एकता नहीं है—एकता तो दूरकी बात है—हम लोगोंमें जातीय-जीवन नहीं, इसीसे हम लोग छोटे हैं—हम लोग बड़े होकर भी छोटे हो गये हैं। हम लोगोंकी उन्नतिके लिये, इस समय जातीय-जीवनका संस्थापन होना नितान्त आवश्यक है। पहले

* Shell-lac.

† Lac-dye.

जातीय-जीवन हो तो पीछे उन्नति होगी। जिसके शिर ही नहीं, उसके शिर-पीड़ा! जिसका जीवन नहीं, उसकी उन्नति! इसीसे कहता हूं, भाई! संवादपत्र-लेखक, भाई कृतविद्य सम्प्रदाय! उन्नतिकी बातें अभी रहने दो। जिससे जातीय-जीवन संस्थापित कर सको उसके लिये बद्ध-परिकर हो जाओ। अवश्य तुम यह बात कह सकते हो कि यदि जातीय-जीवनके अभावमें उन्नतिका होना बिल्कुल असम्भव है, तो अंग्रेजी राज्याधिकारमें जो कुछ उन्नति हुई है, वह कैसे हुई? यह कौन कहता है, कि बिलकुल नहीं हो सकती? मेरा वक्तव्य यह है, कि जिसका नाम यथार्थ उन्नति है, वह नहीं हो सकती। अंग्रेजोंके भारतपर अधिकार करनेके समयसे आज पर्य्यन्त हमलोगोंके किञ्चित उन्नत होनेकी बात स्वीकार करता हूं; परन्तु अब अधिक आगे नहीं बढ़ सकेंगे। जो कुछ हुआ है, वह हमलोगोंकी बुद्धिकी प्रखरता और प्रतिभाकी तीक्ष्णताके कारण। अन्य किसी विजित देशमें इतने समयमें इतनी उन्नति नहीं होती। इतने समयमें कब किस विजित जातिने विदेशीय दर्शन-विज्ञान-साहित्यमें इतनी दूर तक दखल कर लिया था? हम लोग शेक्सपियरके काव्यको हृदयङ्गम कर सकते हैं—कितने संस्कृतज्ञ अंग्रेज "कुमारसम्भव"के काव्य अथवा "उत्तररामचरित" की गम्भीरतामें प्रवेश कर सकते हैं? हम लोग बेकन (Bacon) के भाव समझ सकते हैं, हेगेल (Hegel) के कूटमें प्रवेश

कर सकते हैं, कैंट (Kant) की जटिलताका परिष्कार कर सकते हैं—अन्य कौनसी विजित जाति ऐसा कर सकती है ? विजित जाति तो दूर रही, कितने अंग्रेज पण्डित सांख्य-दर्शनकी जटिलताको समझ सकते हैं ? शङ्कराचार्य्यकी अमानुषी प्रतिभा, अमानुषी विद्याके भीतर प्रवेशकर सकते हैं ? केवल बुद्धिमें उन्नति होनेसे हम लोग सर्व्व-प्रधान नहीं तो एक प्रधान जाति अवश्य होते। इसीसे कहता हूं, कि पहले जातीयता संस्थापित करनेका यत्न करो। किन्तु कैसा भोला मन है, क्या कहते कहते क्या कहने लग गया।

क्या प्राणोंका व्यवसाय करनेसे काम नहीं चलेगा ? एक घर किराये पर लेकर, बड़ेबाजार * में एक प्राणोंकी दूकान खोलनेसे काम नहीं चलेगा ?

किन्तु व्यवसाय चलेगा नहीं। यह वस्तु बैठकर नहीं बेची जा सकती। इसके ग्राहक अपने आप नहीं जुट सकते। बहुतसे भिखारी जुट सकते हैं किन्तु ग्राहक नहीं जुट सकते। वस्तु उत्तम है—न मिलनेपर कितने लोग रो मरते हैं, पाकर सभी चरितार्थ होते हैं, पाकर खोदेनेसे सभी मर्म्माहत होकर बैठ जाते हैं—जीवन अन्धकार हो जाता है, संसार शून्य हो जाता है, जगतका वैचित्र्य लोप हो जाता है, ज्योतिष्कगण हीनप्रभ होजाते हैं, सुन्दर पदार्थोंका

* कलकत्तेके बड़ेबाजार पर लक्ष्य है।

सौन्दर्य्य नष्ट हो जाता है, कलेजेमें अग्नि भड़क उठती है, मन-पतंग उसीमें पड़कर छटपटाता है, मन उदास हो जाता है और मरनेकी इच्छा होती है। चीज तो अच्छी है परन्तु कोई अपने आप लेने नहीं आता—हाथ जोड़, पैर पकड़, अश्रुजलसे अभिषिक्त कर देना पड़ता है, नहीं तो कोई लेता ही नहीं। जो प्राणोंका व्यवसाय करता है, वह वञ्चक नहीं है, इसमें विश्वास ही कैसा? जो वस्तु ढूंढ़नेपर भी नहीं मिलती उसके व्योपारीकी सत्यवादिता पर कौन विश्वास करेगा? इसीसे तो कहता हूं, कि दूकान करनेपर चलेगी नहीं। वस्तु अच्छी है, परन्तु इस पापी संसारमें किस उत्तम वस्तुका आदर है? जगत-पद्धतिके समीप किस उत्तम वस्तुका आदर है? कुसुम मुरझा जाता है, सौन्दर्य्य विकृत होता है, प्रेम भंग हो जाता है, रमणी रोती है—किस उत्तम वस्तुका आदर है? स्त्री और पुरुष दोनोंके लिये नियम एक ही हैं—जिस अग्निसे हम लोगोंका हाथ जल जाता है, उसी अग्निमें उन लोगोंका हाथ भी जल जाता है। हम लोगोंका जले इसमें कोई आपत्ति नहीं, परन्तु उनका क्यों जलता है? जिस रोगसे हम लोग कष्ट पाते हैं, वही रोग उन पर भी अत्याचार करता है। हम लोग मर जाते हैं, इससे कोई दुःख नहीं, परन्तु उनके शिरपीड़ा भी क्यों हो? इसीसे कहता हूं कि किस उत्तम वस्तुका आदर है? सूर्य्य-रश्मिमें रोग-जननता है, बन्धुत्वमें कलह है, प्रणयमें

विरह है, मेघमें सौमा है, वायु हिल्लोलमें संक्रामकता है, रमणीके कण्ठमें परुष वचन हैं, रमणीकी आंखोंमें आंसू हैं, रमणीके हृदयमें दुःख है—फिर कहता हूं, कि किस अच्छी वस्तुका आदर है? चन्दनमें फूल नहीं होता, किंशुकमें गन्ध नहीं होता, ईखमें फल नहीं होता, संगीतमें दर्शनोपयोगिता नहीं होती, सुखमें शान्ति नहीं होती, शान्तिमें सुख नहीं होता—कौनसी अच्छी वस्तु बिल्कुल ही अच्छी है? जो नलिनि-वन देखनेवालेको आनन्द देता है, वही तैरनेवालेके लिये मौत है; जो सभ्यता अंग्रेजोंके लिये गौरव की बात है, वही हम लोगोंके लिये सर्व्वनाशका कारण है; जो चिन्ता-शक्ति तुम्हारा सुख है, वही चिन्ता-शक्ति मेरा काल है; जो चन्द्रमा तुमको आनन्दित करता है, वही चन्द्रमा मुझे रुलाता है; जो प्यार तुम्हें स्वर्ग-सुख देता है, वही हमें नरक-यन्त्रणा देता है—कौनसी उत्तम वस्तु बिलकुल ही उत्तम है? किन्तु—यह जो पुकार रहा है,—"फूल चाहिये, फूल"। अच्छा, उसकी तरह प्राणोंकी भी टोकरी शिर पर लेकर पथ-पथमें, गली-गलीमें, घर-घरमें पुकारते रहनेसे क्या काम नहीं चलेगा? इस तरह पुकारनेसे काम नहीं चलेगा?—"प्राण लोगे प्राण! जो लेता है, वह रोता है जो नहीं लेता वह भी रोता है, जो देता है, वह पागल होता है, जो नहीं देता वह भला आदमी नहीं होता—कोई इस अधमके प्राण लोगे?" नहीं; ऐसी बात सुनकर फिर कौन लेने आता है?

नहीं तो कहूंगा कि—"चीज बहुत अच्छी है, पासमें रहने से कार्य्यमें उत्साह रहता है, धर्म्ममें मति होती है, संसारके प्रति अनुराग होता है, आशामें विश्वास होता है, केवल रातको नींद नहीं आती—कोई प्राण लेगा प्राण?" यह भी ठीक नहीं हुआ। इसमें भी एक खराबी रह गयी। यह तो खराबी नहीं है, यह जागरण तो सुखका जागरण है। यह तो मैंने समझा है, परन्तु सभी सब क्या इसको समझेंगे? तो इस बातको छोड़कर कहूंगा,—"वस्तु अतुलनीय है; जो बेचता है वह मुक्ति पाता है; जो मोल लेता है, वह फिर यौवन पाता है; संसार सुन्दर दीख पड़ता है; उसके अधरोंपर फिर हंसी आ जाती है, उसकी आंखोंका जल सूख जाता है;—वह सशरीर स्वर्ग-सुख भोग करता है—कोई प्राण लेगा प्राण?" इस बारका कहना ठीक हुआ। किन्तु पुकारते पुकारते गला सूख गया, तो भी कोई लेना नहीं चाहता। दूसरेके प्राण लेने जानेही से अपने प्राण जाते हैं—बहुतोंके भाग्यमें यही बदा रहता है, कि पहले अपने प्राण नहीं खोनेसे दूसरेका प्राण मिलता नहीं। अपने प्राण चले जाते हैं इस लिये कोई दूसरेका प्राण लेना नहीं चाहता। तोड़कर बेचनेसे बहुत ग्राहक मिलते हैं परन्तु समूचा प्राण कोई नहीं लेना चाहता। प्राणोंका सुख तो अनेक लोग लेना चाहते हैं, परन्तु दुःख कोई लेना नहीं चाहता; मनका आनन्द लेना चाहते हैं, हृदयका अव-

साद लेना नहीं चाहते—सुखके सुखी तो बहुत मिलते हैं, दुःखके दुखी नहीं मिलते। यही तो दुःखकी बात है! दुःखका साथी नहीं मिलता—मनकी बात कहनेके लिये मन-भावन व्यक्ति नहीं मिलता।

दुःख केवल एक व्यक्ति ले सकता है, केवल एक ही लेना चाहता है। किन्तु उस व्यक्तिके रहने पर दुःखही कैसा? चाहे धन न हो, ऐश्वर्य्य न हो, बन्धु न हों सहायक न हों, घर न हो, खड़े रहनेके लिये भी स्थान न हो—किन्तु उसके रहनेसे दुःख कैसा? रोग-शोक हो, ज्वाला-यन्त्रणा हो, सहस्र दुःख हों—यदि वह रहे तो दुःख कैसा? मारे भूखके यदि अँतड़िया कलबलाती हों, मारे प्यासके यदि छाती फटती हो, संसार ज्वालामें यदि हृदय चिताकी भांति धधकता हो—तो भी उसका मुख देखनेसे फिर दुःख ही क्या? वह नहीं है, इस लिये तो दुःख है, नहीं तो प्राणोंका व्यवसाय ही क्यों करने चला था? इस समय देनेके लिये याचना करना चाहता हूं, कोई लेता नहीं; "ले लो ले लो" कहकर लोगोंके पांव पकड़ता हूं, कोई लेना नहीं चाहता; परन्तु वह इस भयसे सम्मोहित रहती थी कि कहीं इसे खो न दूं! दखलके खलको नई मञ्जरीका चिन्ह पाकर वह अपने आपेमें नहीं समाती थी। मैं भी उस गद्-गद् भावको देखकर, मानो आपेमें नहीं रहता था, न जाने कैसा हो जाता था। मनमें सोचता था कि छाती चीर कर

उसमें से कई हाथ और निकालूं और उसे दस हाथोंसे पकड़ कर रखूं—शरीरका पार्थक्य भी नहीं सहा जाता था। न जाने क्या हो जाता था, और कैसे होजाता था—पिघल कर पानी न हो कर, न जाने पिघल कर क्या हो जाता था। उस भावको भूल गया—बहुत दिनोंसे अभ्यास न रहनेके कारण भूल गया—बहुत दिनोंसे देखा-देखी नहीं है, परिचय नहीं है, मनसे लग भग उठसा गया है। सब हैं—हंसी है, रोना है, स्नेह है, प्रेम है, अनुराग है, आशा है—न रहनेसे क्या मनुष्य जीवित रह सकता है?—थोड़ा हो चाहे घना, सभी हैं—केवल वह पिघल कर न जाने कैसा हो जानेवाला भाव नहीं है। बड़ा मधुर भाव था! स्मृतिकी दृष्टिसे देखकर अब भी न जाने कैसा हो जाता हूं, परन्तु वैसा नहीं होता। उसको आंखोंसे देखकर और हृदयकी आंखे खोलकर हृदयमें देखकर—युगपत् बाहर और भीतर देखकर जैसा हो जाता था, वैसा अब नहीं होता। अब होश रहता है; उस समय "क्या करता हूं" इसका ठिकाना नहीं रहता था। उस भावके लिये, उस "गलकर क्या होने"के लिये, इस समय भी प्राणोंको हथेलीपर रखकर द्वार द्वारपर शिर मारता फिरता हूं, किन्तु अब याचना कर देना चाहता हूं, तो भी कोई लेना नहीं चाहता। वैसा और नहीं मिलता—इस संसार-रत्नाकरमें बहुत रत्न हैं, किन्तु वैसा और नहीं मिलता। इस अनन्त विश्वमें बहुतसे चांद हैं, किन्तु इस

तुच्छ पृथिवीमें एक चांद छोड़कर दूसरा चांद नहीं। जुपिटरमें चार हैं, यूरेनसमें छ हैं, सैटर्नमें आठ हैं—हमारे इस पापी लोकमें एकके सिवा दूसरा नहीं! हम लोगोंके हृदयमें भी एकके सिवा दूसरा नहीं होता। केवल एक ही वार अपनी अपेक्षा दूसरा बड़ा होता है। केवल एक ही व्यक्तिकी तुलनासे अखिल संसार तुच्छ मालूम होता है। दूसरेका यत्न कर सकते हैं, आदर कर सकते हैं, सोहाग कर सकते हैं,—किन्तु प्रेम एक होसे कर सकते हैं। हम लोगोंका प्रथम प्रेम करना ही अन्तिम प्रेम करना होता है। हम लोगोंका प्रथम प्रेम करना ही एकमात्र प्रेम करना होता है। जिस मूर्त्तिको दिनमें सहस्रवार देखकर भी आंखें तृप्त नहीं होतीं, जो मूर्त्ति सदा-सर्व्वदा आंखोंके सामने नाचती रहती है, जो मूर्त्ति एकबार हृदयमें अङ्कित हो जाती है, वही मूर्त्ति सर्व्वदा हृदयमें बनी रहती है। समय-स्रोतसे सब धुल जाते हैं—रूप, यौवन, प्रफुल्लता, सुख, आशा सभी बह जाते हैं; किन्तु हृदयका दाग नहीं मिटता—हृत्पिण्डको छेदन कर फेंक न देनेसे, वह दाग नहीं जाता। वह नहीं होता—जो चला जाता है, वैसा फिर नहीं होता। उसके बाद नया बन्दोबस्त करना मानो भूतोंका बोझ वहन करना है। किन्तु क्या कहता था भूल गया—

प्राणोंका व्यवसाय करूंगा। किन्तु किस मूल्यपर बेचने पर अच्छा होगा? कितना मूल्य पानेपर दे सकता हूं?

रूप पाने पर ? रूपसे क्या होगा ? जो चंचल है, वह और भी चंचल हो जाता है; जो पागल है, उसका पागलपन बढ़ जाता है; जो निर्व्वोध है, उसकी बुद्धि लुप्त हो जाती है, जिसके कलेजेमें आग है, उसकी अग्नि धधका उठती है, जिसके पैर लड़खड़ाते हैं, वह गिर पड़ता है। मैं रूप लेकर क्या करूंगा ? रूप कितने दिनोंके लिये है ? नव-दुर्व्वादल-विलम्बि-नीहार-विन्दुकी नाईं, वृष्टि सम्पातोद्भूत जलविम्बकी नाईं, इन्द्रियोंकी वश्यताकी नाईं, व्यवसाईके धनकी नाईं, सैनिकके मस्तक की नाईं, प्रणयीके सुखकी नाईं, यत्नशील मस्तकी नाईं, मनुष्यके जीवनकी नाईं, हतभाग्य भारतवर्षीय राजाओंके राज्यकी नाईं, मेरे मानसपटमें उस सुखकी नाईं, अभी है और अभी नहीं। रूपसे प्रयोजन नहीं है—रूप ले कर क्या करूंगा ?

तो शान्ति! शान्ति ? तो फिर इस व्यवसायसे काम ही क्या। जान्हवीके गर्भमें शयन करनेहीसे हो जायगा—औरोंके हाथ पांव पकड़नेसे क्या लाभ है ? जान्हवीकी शीतल-शैय्यापर सदाके लिये शयन करनेमें जो शान्ति है, वैसी शान्ति और कहां है ? तो सुख! ठीक तो है—अच्छा, तो वही सही।

कल्पनाकी सहायतासे घरसे बाहर निकला। पुकारने लगा—उच्चस्वरसे पुकारने लगा—"कोई प्राण लेगा प्राण ?" एकबार, दो बार, तीन बार पुकारा, किसीने लेनेकी इच्छा

ही नहीं की। एक गृहके भीतरसे नैश-गगनको भेदकर आनन्द-ध्वनि आती थी। डूबता हुआ मनुष्य तृण पाकर उसको भी पकड़ लेता है। सोचा, कि यहीं शायद प्राणोंकी गति हो जाय। घरके भीतर गया। पुकारा—"प्राण लोगी, प्राण?" एक स्त्रीने निकलकर पूछा—"दाम क्या है?"

मैंने कहा,—"सुख।"

रमणीने मुस्कुराकर कहा—"सुख? सुख कौन किसको दे सकता है? सुख अपने अपने अधीन है। हमारे सह-वासको लोकमें स्वर्गवास कहते हैं। बात ठीक है; किन्तु इस उपमाके प्रकृत सौन्दर्य्यको सब नहीं समझते। स्वर्गमें सुख भोग होता है, परन्तु अपना अपना सुख संग ले जाना पड़ता है। हम लोग भी हर एक को सुखी नहीं कर सकतीं—अखल स्वर्गमें भी धानही कूटती है।"

एक एक दो दो कर बहुतसी स्त्रियां आजुटीं। प्राणोंके व्यवसायीकी बात सुनकर सभी कुतूहलवश हुईं। एकने पूछा—"तुम्हारे पास कितने प्राण हैं?"

मैंने कहा—"एकके सिवाय दूसरा नहीं।"

सुन्दरी बोली,—"एक वस्तुसे क्या व्यवसाय होता है?" किसी औरने कहा—"देखें, कैसा प्राण है?"

व्यस्त होकर प्राण खोलकर रख दिया। सुन्दरीने देख-कर कहा—"यह प्राण कौन लेगा? यह तो डेमेज (damage=रद्दी) प्राण है! इसमें उत्साह नहीं, रस नहीं,

प्रफुल्लता नहीं, आशा नहीं,—यह डेमेज वस्तु कौन लेगा? यह तो व्यवहारमें लाई हुई वस्तु है!—क्या और भी किसीके हाथ बेचा था? मेरे हृदयमें समुद्रमंथन आरम्भ हुआ! सिर घूमने लगा। आंखोंके सामने अंधकार छा गया! हृदयको चीरकर शुष्ककण्ठसे शब्द निकले,—"बेचा नहीं था! मैं शपथ खाकर कह सकता हूं, कि मैंने बेचा नहीं था। एक व्यक्तिने निकाल लिया था। मेरी अजानकारीमें घरमें सेंध लगाकर प्राण निकाल लिया था। एक दिन—उस समय शरद्का चन्द्रमा आकाशमें हंस रहा था—एक दिन शेष-रात्रिमें अकस्मात् निद्रा भंग हो गयी। एक निद्रिता बालिकाका मुख बड़ा ही सुन्दर लगा। बीतती हुई रातकी मृदु पवन सहित ज्योत्स्नास्रोत आकर उस मुखपर पड़ रहा था—बड़ा ही सुन्दर लगता था। मेरी नींद टूटी थी, मैं खुमारीमें था—मुख बड़ा ही सुन्दर लगता था। काठपुतलीकी तरह निश्चल होकर उस मुखको देखने लगा—हृदयमें नवीन सुखकी तरङ्गें उठने लगीं; चिन्तास्रोत नया पथ खोदकर बह गया। फिर फिर—बार बार उस मुखको देखा—बड़ा सुन्दर लगता था। आकाशके चांदको देखा—बड़ा सुन्दर लगता था। चारों ओर चाहसे देखने लगा—संसार बड़ा सुन्दर लगता था। हृदयके भीतर चाहसे देखा—सर्व्वनाश! मेरा प्राण चोरी हो गया। अनुसन्धान किया। चन्द्रदेवसे पूछा,—चन्द्रदेव हंस पड़े। वृक्ष-लतादिकोंसे पूछा,—उन्होंने सिर

छिला दिया। कुसुमसुन्दरियोंसे पूछा,—वे हंसकर एक दूसरी पर गिर पड़ीं। समीरणसे पूछा,—समीरण "हाय! हाय!" करने लगा। दूसरे दिन उस बालिकासे पूछा,—बालिका मुंहपर कपड़ा रखकर हंसती हुई घरसे भाग गयी। समझ गया—इसीने चुराया है, नहीं तो भागती क्यों?" सुन्दरी बोली—"जब चोरको पहचान ही लिया, तब वस्तु क्यों नहीं लौटा ली?"

लौटा लूं? शिव! शिव!! किससे लौटा लूं? कौन लौटावेगा? उस मुखमें वह मधुर हंसी देखकर मनमें विचार आया—निदारुण विधि! एकके अतिरिक्त और प्राण क्यों नहीं दिया? यदि होता तो, एक तो गया ही था, बचा हुआ देकर दक्षिणा भी चुका देता। उस समय संसारको पहचानता नहीं था। कौन जानता था, कि प्यार करने हीसे रोना पड़ता है? कौन जानता था, कि ऐसा होगा? सुन्दरीसे कहा—"लौटा क्या लेता? उस मुखको देखते ही सब कुछ भूल गया।" रमणी बोली—"तब तो खूब व्यवसाय करने चले हो?" मैंने उत्तर दिया—"दुःखकी बात क्या सुनाऊं, वह अब न रही। कालसमुद्रमें दोनों एक दूसरेके मुंहकी ओर देखते हुए तैर रहे थे। तैरते तैरते मैं वह चला और वह डूब गयी; फिर नहीं उतराई! पहले लोगोंके मुंहसे सुना था, कि इस समुद्रका पार लगानेवाला है। उस समय अन्य विषयोंपर विचार करनेका अवसर नहीं था;

लोग जो कहते थे, उसीपर विश्वास कर लेता था। उस समय कातर-भावसे व्याकुल होकर पुकारा—'अनाथ नाथ! मेरा प्राणाधिक—मेरा जीवनसर्व्वस्व इस जलमें डूब गया है, उसे निकाल दो। दरिद्रका रत्न ढूंढ़ दो।' कितना पुकारा कितना रोया,—लोगोंकी बात झूठी निकली! इस पारावारको पार लगानेवाला कोई नहीं!" सुन्दरी बोली—"वह तो चली गयी, परन्तु तुम्हारे प्राण क्या तुमको लौटा गयी?" मैंने कहा—"न लौटा गयी और न संग ही ले गयी—केवल फेंक गयी!" सुन्दरी हंसी और बोली—"तब तो तुम भले आदमी नहीं हो। जब वह तुम्हें दे ही नहीं गयी तो उस वस्तुपर तुम्हारा अधिकार ही क्या है? क्या सोचकर उसे बेचने चले हो? किसका धन, कौन बेचेगा? चित्तचोरको पहिचान कर भी जब तुम हृत् वस्तुको लौटा लेनेकी बात मुंहपर नहीं लाये, तो वह वस्तु दानमें दी हुई समझी जायगी। जो दाम देकर ले लेता है वह महापापी है।" मेरा स्मृति-सागर मथित होने लगा। हृदयके आधे रक्तको शोषित करती हुई एक लम्बी आह निकल पड़ी। आंखें डबडबा आईं—रोने लगा। और कुछ कहनेका मुंह न रहा, वहांसे चला आया। आते आते राहमें सोचा—तभी तो, इस तुच्छ मोटी बुद्धिमें यह सामान्य बात नहीं समाती! 'वह आदमी अच्छा नहीं है' यह बात ठीक ही कही थी। एक बार जो वस्तु एकको दे दी, दूसरेको देनेका

क्या अधिकार रहा? दिया सो गया। किन्तु यही तो खटकती है। वस्तु देनेपर वापस नहीं मिलती। गया—साफ गया—एक दम हाथसे चला गया। किन्तु ऐसा न हो तो फिर देना ही क्या है? ठीक तो है; जो दूसरेको देने चलता है, वह भला आदमी नहीं है।

परन्तु, मनुष्य चला जाता है—जो दिया जाता है, उसे लौटाकर क्यों नहीं जाता? उसका अभाव हो जाता है, किन्तु उस अभावका अभाव क्यों नहीं होता? वस्तु चली जाती है, उसकी स्मृति क्यों रह जाती है? स्मृति! स्मृति!—यही तो बला है। इसकी अस्थि-मज्जासे अभाव मिला हुआ है। इस शब्दका अर्थ ही है—न जाने क्या नहीं है। जो नहीं है, उसीकी मानसिक भाव-समष्टिका नाम 'स्मृति' है। खोई हुई वस्तुओंकी तालिकाके सिवा स्मृति और क्या है? एक एक कर वस्तुएं चली जाती हैं; और, उनके नाम उनकी गुणावलीका सुदीर्घ विवरण, उनकी सुखप्रदानताका उज्ज्वल चित्र उस तालिका पर चढ़ता जाता है। ऐसा क्यों होता है? जो चला जाता है, उसका नाम पर्य्यन्त क्यों नहीं उठ जाता? जो वस्तु नहीं है, उसका नाम क्यों है? पापीयसी स्मृति ही क्यों है? किन्तु स्मृति न रहनेसे क्या मनुष्यकी उन्नति होती? न सही; जिसको संसारमें उन्नति कहते हैं, उससे क्या किसीकी सुख-वृद्धि होती है? समाजकी उन्नति निम्नस्तरसे कौन किस कालमें सुखी हुआ है?

दो सौ वर्ष पहलेके मनुष्य क्या हम लोगोंकी अपेक्षा दुखी थे? उनके पास मेहगनी टेबुल नहीं था; इजीचेयर नहीं था; वे लोग फ्री विल नेसेसिटी (Free will necessity) नहीं जानते थे; उन लोगोंने अम्लजान, जलजानका नामतक नहीं सुना था; वे लोग इंटिङ्ग बूट नहीं पहनते थे, उनकी तकियेके नीचे दियासलाई नहीं रहती थी, टेबुलपर घड़ी टक् टक् नहीं करती थी—किन्तु इन कारणोंसे क्या वे लोग हम लोगोंकी अपेक्षा दुखी थे? मनुष्यके सुख-दुःख क्या कोट, पतलून और हैटपर निर्भर करते हैं? सामाजिक उन्नतिसे क्या कभी भी किसीकी आंखोंके आंसू सूखे हैं? कभी भी किसीका शून्य हृदय पूर्ण हुआ है?—कभी भी किसीकी हृदय-मरुभूमिमें फूल खिले हैं? कभी भी किसीका हृत धन लौट आया है?—कुछ नहीं। मनुष्यके सुख दुःख अभावपर टिके हुए हैं। जिसके अभाव है, और जिसका वह अभाव यत्न करनेपर पूर्ण हो जाता है, वही सुखी है। जिसके सब अभाव पूर्ण नहीं होते वह दुःखी है। जिसके अधिकांश अभाव पूर्ण नहीं होते वह उससे अधिक दुखी है। जिसका प्रधान अभाव पूर्ण नहीं होता वह उससे भी अधिक दुःखी है। जो अप्राप्य है, उसके लिये जो लाला-यित है, वह बड़ा ही दुखी है। और जिसके कोई अभाव नहीं है, उसके ऐसा दुखी संसार भरमें नहीं है। अभा-वका रहना भी सुख नहीं है। अभाव होकर जब पूर्ण

होता है, तभी सुख होता है और जिसके अभाव अधिक हैं, उसके दुःखकी सम्भावना भी अधिक है। जिसके अभाव कम है, उसको दुःख-सम्भावना भी थोड़ी है। उन्नतिसे अभावोंकी वृद्धि होती है, सुतरां दुःखोंकी वृद्धि होती है। ताड़ित-वार्त्तावहका न रहना, उन्नत जातिके लिये दुःखका कारण हो सकता है; किन्तु जो उसके नहीं रहनेको अभावोंकी गिनतीमें नहीं लाते, उनको ताड़ित-वार्तावहके न रहनेसे क्या दुःख है? उन्नतिसे विलासिताके उपकरण बढ़ते हैं। किन्तु क्या कहता था, भूल गया—स्मृति क्यों है? स्मृति न रहनेसे क्या मनुष्यकी उन्नति नहीं होती? न होती तो न सही,—हृदयमें यह समुद्रोच्छ्वास तो नहीं रहता। जो नैराश्य-वायु हृदयमें हाहाकार मचा रहा है वह तो थम जाता; हृदयका यह अस्पष्ट हाहाकार तो उपशमित होता, किन्तु मनुष्यके अनेक सुख स्मृतिमूलक हैं। स्मृतिका अभाव होने पर उन सुखोंका भी अभाव होता! होय—सुख जाने पर यदि दुःख भी चला जाय तो सुख चला जाय, उसमें आपत्ति नहीं है। यह यन्त्रणा अब सही नहीं जाती। दिवानिशि हृदयपर अग्निका ताप और नहीं सह सकता। निरन्तर हृदयकी तह तहमें—हृदयके स्तर स्तरमें जो लाख लाख वृश्चिक-दंशन होते हैं, उनकी उत्कट यातना और सही नहीं जाती।

और यह पापिनी स्मृति मेरे आश्रयमें रह कर मुझे ही

नष्ट करती है। जिस प्रकार शीतकालमें सन्यासी जिस वृक्षके तले आश्रय लेता है उसीकी डालियां काट काट अग्नि जलाता है, उसी प्रकार स्मृति-पिशाचिनी मेरे आश्रयमें रहकर मेरा ही अनिष्ट करती है—मेरे ही प्राण-वृक्षकी डालियां काट काट कालानलमें जलाती है। नराधम निकोलेने जिस प्रकार हम लोगोंका रुपया ले कर, हमारे आश्रयमें रह हमारे ही अन्नसे उदर पोषण कर, इतर लोगोंको तरह हमीं लोगोंको अभद्रोचित गालियां दी थीं, स्मृति पिशाचिनी उसी प्रकार मेरे हृदयमें बैठकर, मेरे ही हृदयका चर्व्वण करती है। मेरीसे साहब को अच्छा कहनेकी जिसकी रुचि हो, वह कहे—मैं नहीं कहूंगा। जो झूठमूठ भले आदमियोंके नाममें कलंकारोपण करता है, वह यदि भला आदमी है, तो नीच कौन है? किन्तु स्मृतिकी कौनसी बात कह रहा था—पिशाचिनी मेरे ही हृदयका चर्व्वण करती है। उसके दोनों ओठोंसे जो विकट शोणित धारा बहती है, उसीको साधारण जन "अश्रुधारा" कहते हैं—भाषामें, उस स्मृति पिशाचिनी-चर्व्वित-हृदयनिःसृत शोणित-धाराहीका नाम है—आंखोंका पानी। बस् भोला! आज तक किसीने 'अश्रु' शब्दका इस प्रकार अर्थ नहीं किया था। अभिमानी है! आशा करता हूं, कि भविष्य शब्द-कोष-प्रणेता-गण मेरा यह अर्थ ग्रहण करेंगे। किन्तु—लो! यह गोलमाल होगया—किन्तु इस जन्ममें फिर प्राणोंकी शांति

नहीं कर सका। और प्राणोंका व्यवसाय नहीं हो सका। जिसपर अपना स्वत्व ही साबित न कर सका, उसके द्वारा व्यवसाय कैसे करूंगा? समझा, मेरी दुःख-नदीका किनारा नहीं। भग्नचित्त और भी टूट गया। रोता रोता घर लौट आया।

पूनोका चांद।

लहराते हुए मनमाने किधर जाते हो? एक बार ठहरो, एक बार तुम्हें अच्छी तरह देख लूं। मनुष्यके इस दुःखमय जीवनमें अनेक प्रकारके दुःख हैं; किन्तु मर्मान्तिक दुःख यही है, कि वह कुछ भी अच्छी तरह देख नहीं सकता। जो कुछ देखा, जिसे देखकर मोहित हुआ, जिसको देखकर फिर देखनेके लिये लालायित है— कुछ भी अच्छी तरह नहीं देख सका। एक कवि कह गया है:—"टुक देखनेको हसरत दिलमें मचल रही है, छाता न गर अंधेरा कुछ और देख लेता!" कुसुम, देखते देखते मुरझा गया, इन्द्रधनु देखते देखते विलुप्त हो गया; क्षणप्रभा ज्योंही प्रगट हुई त्योंही लुप्त हो गयी—आंखें तरसकर कुछ भी देख न सका। कुसुमकी कोमलता, विद्युतकी विकाश, इन्द्रधनुका वैचित्र्य, सायान्ह-गगनकी छटा, वासन्ती पवनकी माधुरी, चन्द्र-रश्मिकी पवित्रता—जिसमें एक साथ मिली हुई देख पड़ी, वह भी कहीं चली गयी! कहां गयी—

"भाल करि * पेखन ना भेल ।
मेघमाला संग तड़ित-लता जनु
हृदय शेल दइ गेल ॥ (विद्यापति)

ठहरो, ठहरो ! जरा ठहरो ; एकबार आंखे भरकर—अघाकर—तुम्हें देख लूं । तुम मुझे बड़े प्यारे लगते हो । तुम सुन्दर हो, इसीलिये प्यारे लगते हो ; तुम कोमल हो, इसीलिये प्यारे लगते हो ; तुम्हारे हृदयकी नाईं मेरे हृदयमें भी कालिमा है, इसीलिये तुम प्यारे लगते हो । इसीलिये तुम्हारे इन मस्त-मतवाले-नयनों और मृदु मुसुकानकी बलैयां लेता हूं ।

केवल क्या इसी लिये ? नहीं ; नहीं ; और भी कुछ है ? इस प्यारके भीतर—केवल इस आंखोंके प्यारके भीतर और भी कुछ है ? तुम आकाशके चांद हो, मेरे आकाश कुसुमको—हाय ! उसे फिर कभी छातीसे न लगा सकूंगा—हृदयमें रखकर, बार बार, क्षण क्षणमें बार बार, उसके मुंहकी ओर टकटकी नहीं बांध सकूंगा । कहनेके लिये कुछ न होनेपर भी 'कह' 'कह' मनमें सोचकर, केवल स्वप्न-सुखके लिये, फिर कभी व्यर्थ जागकर रात नहीं बिता सकूंगा । कभी भी मेरे लिये कुछ अधिक हंसी—"मैं आया हूं", इसलिये अधिक आह्लाद, उस चन्द्राननमें नहीं देख

* भालकरि = अच्छीतरह ।

सकूंगा। फिर कभी वह वचनामृत कानोंमें ढालनेके लिये नहीं आयेगी—केवल आंखों देखेका प्रेम है—क्या इसके भीतर और कुछ है? मुझको तो ऐसा ही पड़ता है। तुमको देखनेपर स्मृतिके गभीर अन्धकारमें न जाने क्या धुँधला सा दीख पड़ता है; और पलभरमें अदृश्य हो जाता है। ढूंढ़ता हूं, परन्तु पाता नहीं। जिधर देखता हूं—शून्य! उसको—जिसको चाहता हूं, कहीं पाता नहीं। सारा संसार ढूंढ़ डाला, वह स्वर्णमणि एक ही थी, और नहीं है। हृदयमें दृष्टि डाल कर देखता हूं, तो मालूम होता है, कि कुछ धधक रहा है,—दिग्-दिगन्त परिव्याप्त हो सारे हृदयाकाशमें न जाने क्या धधक रहा है। कुछभी समझमें नहीं आता, कि वह क्या है। मरुभूमि नहीं, अरण्य नहीं, सागर नहीं, अकूल नदी नहीं, आकाश नहीं; जिसके साथ दुनियामें दग्ध हृदयकी तुलना की जाती है, वह नहीं—वह न जाने क्या है?—मानो कुछ भी नहीं। मरुभूमिमें ओएसिस (उपजाऊ भूमि) हैं, अरण्यमें जीव हैं, सैदालमें नाले हैं, सागरमें द्वीप हैं, नदीमें जल है, आकाशमें तारे हैं—हृदयमें कुछ नहीं!

इस नदीका थाह नहीं, इस नदीमें नाव नहीं, बेड़ा नहीं, मछलियां नहीं तैरतीं, चन्द्रमा नहीं हँसता, नक्षत्र नहीं नाचते, प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता; इस नदीमें जल नहीं, मट्टी नहीं, बालू नहीं—यह नदी शून्यमयी है। इस आकाशमें सूर्य

नहीं, चांद नहीं, नक्षत्र नहीं; इसमें मेघ नहीं उमड़ते, चपला नहीं चमकती, उल्कापात नहीं होता, वज्र नहीं गरजता—यह आकाश आकाशमय है। इस मरुभूमिमें सूर्यकी किरणें नहीं पड़तीं, वायु नहीं बहता, उत्ताप नहीं लगता, इसमें बालू नहीं, मिट्टी नहीं, छोटे छोटे वृक्ष नहीं—यह मरुभूमि मरुभूमिमय है। इस अरण्यमें नदी नहीं, वृक्ष नहीं, लता नहीं, तृण नहीं, पगडण्डी नहीं; इसमें वनफूल नहीं खिलते, पक्षी नहीं चहचहाते—यह अरण्य मानो कुछ भी नहीं है। कहीं भी ढूंढ़कर नहीं पाता। अन्तमें अनन्त दुःखसे दुःखी हो, अनन्तमें मिलनेके लिये जब अनन्त आकाशकी ओर देखता हूं, तब तुम्हें देखकर वह स्वप्नमयी मूर्त्ति जाग्रत हो उठती है। इसीसे कलङ्की चन्द्र! कलङ्क लगा रहने पर भी तुम्हें इतना प्यार करता हूं। हानिके सिवा लाभ नहीं, दुःखके सिवा सुख नहीं, रुलानेके सिवा हंसाते नहीं, हंसनेके सिवाय रोते नहीं—तो भी इतना प्यार करता हूं। केवल उस अतुलनीय सुखके साथ दूरका सम्बन्ध है, इसीसे—नहीं तो तुम मेरे कौन हो? किन्तु शशि! जब बात याद आ पड़ती है, तब बड़ी यन्त्रणा पाता हूं! जीवन अन्धकार, संसार शून्य—मन कैसा उदास हो जाता है। मैं सुख नहीं चाहता, क्योंकि सुखके साथ दुःख भी लगा रहता है—सुख दुःख की जिस मूर्त्तिकी कल्पना सुकरात (Socrates) ने की थी, वही ठीक है। मैं सुख नहीं

चाहता—केवल शान्तिका भिखारी हूं। बता सकते हो चन्द्रदेव, जहां जानेसे नयन-नीर सूख जाय, ऐसा शान्ति-निकेतन कहां है? उसको भूल सकनेसे शान्ति मिल सकती है। तो क्या उसे भूल जाऊं? हा अदृष्ट! भूलनेकी इच्छा करनेसे ही क्या भूल जाऊंगा? किन्तु यदि भूल सकूं भी तो क्या भूलनेकी इच्छा करूंगा? यदि कोई देवता प्रसन्न होकर वर देना चाहें, तो क्या उसे भूलने की इच्छा करूंगा? यदि ऐसा हो तो क्या मांगूं? और क्या मांगूं? उसीको मांगूं? यदि यह वर छोड़ और सब कुछ देनेकी इच्छा करे तो क्या मांगूं? भूल जाना मांगूं। नहीं, उसको यदि नहीं पाऊं, तो मौत मांगूं। यदि यह वर भी न पाऊं तो—यदि जीवित रहना पड़े और उसे न पाऊं, तो क्या भूल जाना मांगूं? नहीं, फिर मौत ही मांगूं। एक बात कहता हूं, यदि मृत्यु न हो—तो-तो-तो—फिर मृत्यु ही मांगूं। मरण भी न हो और वह वर भी न पाऊं—तो भी मौत ही मांगूं। नहीं तो और चाहूंगा ही क्या? उसको भूल जानेकी बात मुंह पर नहीं ला सकूंगा,—फिर मांगूंगा ही क्या? इतना रोता हूं, वह देखती तो नहीं, इतना विलाप करता हूं, वह सुनती तो नहीं—ढाढ़स देने तो नहीं आती—आंखोंका आंसू पोंछने तो नहीं आती? तब क्यों नहीं भूलूंगा? अच्छा, तो भूल जाऊंगा, फिर इस अन्धकारमें दीपक जलेगा, इस

आकाशमें चांद उदित होगा, इस नदीमें नक्षत्र नाचेंगे, इस मरुभूमिमें कुसुम खिलेंगे, इस समुद्रमें द्वीप प्रगट होंगे इस अरण्यमें पथ बनेगा; इस मेघमें सौदामिनी चमकेगी; फिर संसार सुन्दर दीख पड़ेगा; जगत्-कार्य्यमें वैचित्र्य देखूंगा, मनुष्य-मुखमें देवभाव देखूंगा, सबका विश्वास करूंगा, उच्च हंसी हंसूंगा, पौषकी रात छोटी जान पड़ेगी; फिर हृदय-यन्त्र बजेगा, शून्य हृदय पूर्ण होगा, गृहकी आकर्षणशक्ति लौट आयेगी, आंखोंका जल सूख जायगा, हृदयकी आह मिटेगी, दुःखकी रात कट जायगी— अच्छा तो भूलता क्यों नहीं? क्या भूलूं? नहीं, हो नहीं सका; ऐसा नहीं कर सका। इसके लिये क्या किया जाय? मनने नहीं माना, हृदयने नहीं समझा, छाती कड़ी न कर सका—क्या करूं, लाचार हूं। रात दिन उसीका ध्यान करते करते तन्मय हो गया हूं। अब यह स्मृति ही मेरा जीवन है—इसको भूलकर जीऊंगा किसके सहारे? शून्य हृदयकी अपेक्षा यन्त्रणा ही अच्छी है।

कहते लज्जा आती है, किन्तु, इतनी ज्वाला-यन्त्रणा सह कर, इस प्रकार सम्मोहित होकर, उस स्मृतिके तले पड़ा रहता हूं—जल भुनकर खाक होता हूं, छटपटाता हूं, रोता हूं, तो भी जो प्रज्वलित अनल हृदयमें रखकर बैठा हूं उसमें भी कुछ स्वार्थपरता है। हृदयमें उसके रहनेसे हृदय पवित्र रहता है। जिस घरमें वह अतिथि है, उस घरमें

कठिनता, कर्कशपन, कुछ भी नहीं ठहर सकता। उसके मनमें रहनेसे—मन छोड़ वह और कहां रह सकती है?—मानो बिना परिश्रम ही दूसरेकी हंसीमें हंस सकता हूं—मानो आप ही आप अपनेको भूल जाता हूं। पराये सुखसे सुखी हो सकता हूं—मानो अनुभव करता हूं, कि दूसरोंको सुखी करनेके लिये ही यह मनुष्य-जन्म है। हृदय जल जाता है सही, परन्तु जले बिना अपवित्रता कैसे जायगी? बिना तपाये सोना भी शुद्ध नहीं होता। शोक-दुःख हुए बिना सहृदयता कैसे उत्पन्न होगी? स्वीकार करता ही हूं, कि कुछ स्वार्थपरता है। वह मेरे धर्म्मका बन्धन है। उसे मनसे दूर करनेसे धर्म्मबन्धन टूट जायगा। स्त्रियोंका मुखारविन्द हृदयमें न रहनेसे धर्म्म-ग्रन्थि शिथिल पड़ जाती है। और कोई दूसरी स्त्री इस हृदयमें स्थान नहीं पाती;—स्त्रियोंकी बात याद आने हीसे, स्त्रियोंकी बात सोचने हीसे, वह तुरन्त आकर सारे हृदयको छेंककर खड़ी हो जाती है। इसीसे कहता हूं, उसको भूलनेपर, धर्म्मपथपर स्थिर होकर नहीं चल सकूंगा—"आत्मविसर्जन" केवल शब्दमात्र रह जायगा। कागज-पर कलमसे निःस्वार्थ पर-हित-व्रतकी अनेक कहानियां लिख सकूंगा, परन्तु जैसा उनका अनुभव इस समय हृदयकी तह तहमें कर रहा हूं, वैसा फिर नहीं रहेगा।

उस दिन जब उस भोगलालसामुग्ध, संसारत्यागी योगी पुरुषने कहा था—"स्त्रियोंको काल-भुजङ्गो जानकर उनसे

मार्गसे दूर रहना ; यदि धर्ममें मति हो, पुण्य-सञ्चयमें अभि-रुचि हो, इन्द्रिय-दमनकी वासना हो, स्वर्गमें जानेकी अभि-लाषा हो, तो कभी रमणीका मुंह न देखना" ;—तब मैंने मुंह खोलकर तो कुछ भी नहीं कहा था, परन्तु मन ही मन हंसा अवश्य था। शायद महात्माके मनमें चोट लगे, इस विचारसे उनके कथनपर कोई आपत्ति न की, परन्तु मन ही मन हंसा था। शिव! शिव!! स्वर्गगमनमें बाधा पहुंचती है, इस भयसे क्या रमणीका मुंह नहीं देखूंगा? हरे, हरे! जब रमणीका प्रणय-पवित्र मुख नहीं देखोगे तो कैसे जानोगे, कि स्वर्ग कैसा होता है—देवता कैसे होते हैं,—देवियां कैसी होती हैं,—वे देखनेमें कैसी होती हैं—उनकी पवित्रता कैसी होती है—स्वर्ग-सुख कैसा होता है? रम-णीका मुख नहीं देखोगे तो सीखोगे कैसे, कि पवित्रता क्या है—भक्ति-प्रीति क्या है—सहिष्णुता क्या है—आत्म-विस-र्जन क्या है—निःस्वार्थ प्रेम करना क्या है? वह मुख नहीं देखोगे तो कैसे जानोगे कि, नन्दनकाननमें जो फूल खिलते हैं, वे कैसे होते हैं—अप्सरायें और किन्नर जो गाते हैं, वह कैसा संगीत होता है—देवतागण हमलोगोंसे जैसा स्नेह रखते हैं, वह कैसा स्नेह है—अनन्त स्नेह, अनन्त प्रेम किसे कहते हैं? इस पापमय संसारमें रमणीके मुखके अति-रिक्त और कौनसी वस्तु देखनेके उपयुक्त है? रमणी-कण्ठ-शब्दके अतिरिक्त और क्या सुननेके उपयुक्त है?

धर्म्मशिक्षाके निमित्त रमणी-हृदयकी तरह आदर्श और क्या है ?

हैं ! यह क्या शशि ! बादलोंकी आड़से अकस्मात् निकलकर इतने हंसते क्यों हो ? क्या कहते हो ? झूठी बात—मुंह देखेकी प्रीति ? मुंह देखेकी प्रीति है, इसमें बात ही क्या : नहीं तो स्त्रियोंको अन्तःपुरावद्ध दासीकी तरह क्यों रखते हो ? दासीके भी दासीत्वका समय है, दासीमें भी प्रभु-परिवर्त्तनकी क्षमता है, दासीको भी विषय—विशेषमें सम्पूर्ण स्वाधीनता है, किन्तु जो प्राणोंका प्राण है, जो जीवनका जीवन है, जो धर्म्मका बन्धन है, जो संसारमें शान्ति-निकेतन है, जो गृहमें आकर्षणी शक्ति है—उसके दासीत्वका समय असमय नहीं, प्रभुपरिवर्तन नहीं, उसे किसी प्रकारकी स्वाधीनता नहीं । वह जागते-सोते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, हंसते-रोते, दासी है, वह भक्ति-श्रद्धामें दासी है, वह हृदयमें मनमें दासी है । उसके दासीत्वका मोचन नहीं, उसके दासीत्वका मूल्य नहीं, उसके दासीत्वकी प्रशंसा नहीं । उसको इच्छानुसार जला सकते हो—तंग कर सकते हो, अपमानित कर सकते हो, उसे अति जघन्य इन्द्रिय-लालसा चरितार्थ करनेकी सामग्री बना सकते हो । दूसरेके हाथकी काठ पुतली बननेकी तरह,—जो अत्याचारी है उसीकी विलास-सामग्री बननेकी तरह, अधःपतन दूसरा नहीं । उनको भी मनुष्य देह मिली है और तुम भी मनुष्य हो—उनपर यह आधिपत्य

तुमको किसने दिया। शरीरपर अत्याचार करना अधर्म्म है। इन्द्रियपर अत्याचार करना ततोधिक अधर्म्म है। किन्तु हृदयपर अत्याचार करनेके समान अधर्म्म जगत्‌में दूसरा नहीं। तुम किसपर अत्याचार नहीं करते? तुम अपने लिये सहस्र बन्धन रखते हो और उनका सर्वस्व एक दुर्बल बन्धनमें बांध देते हो। जो प्रदीप प्रत्येक मुहूर्त्तमें बुझ सकता है, जिस नीहार-बिन्दुको सूर्य्यकी प्रति रश्मि सुखा सकती है, जो लता पद पदपर छिन्नभिन्न हो सकती है, वायुका प्रत्येक हिल्लोल जिस कोमल कुसुमको तोड़कर गिरा सकता है, जो इन्द्र-धनु क्षण भरमें शून्यमें विलीन हो सकता है, जो शून्यप्रक्षिप्त पत्थरका टुकड़ा प्रतिक्षणमें मट्टीमें मिल सकता है, जो जल बुदबुद बातकी बातमें पानी हो सकता है तुम उसके साथ उनका सर्वस्व बांध देते हो। तुम्हारा एक बन्धन टूटता है, सहस्र बन्धन रह जाते हैं। किन्तु उनका केवल एक बन्धन होता है, उसके टूटते ही उनको दुर्गति हो जाती है। जो सब अर्थोंको सार है, उसकी यह दुर्दशा!—क्या यह मुंह देखे की प्रीति नहीं है? उसके पिता-माता नहीं, भाई-बन्धु नहीं, स्वामीके सिवाय त्रिभुवनमें कोई भी उसका नहीं। जिस दिन विवाह हुआ उसी दिन उसके मनकी कुल नदियां पति-पयोधिमें आ मिलीं;—उसका पति ही पिता-माता, पति ही भाई-बन्धु है, पति ही ध्यान-ज्ञान है, पति ही सर्वस्व है, पति ही इहलोक-परलोक है, पति ही चतुर्वर्ग है;

पतिका चरणामृत पान ही उसका प्रधान कर्म्म है, पतिके चरणोंकी सेवा ही उसका परम धर्म है, पतिका मुखमण्डल ही उसके लिये संसार-सागरकी तरणी है, पतिका चरणारविन्दही उसके भवसागरका बेड़ा है। तुम उसे लातमारो वह तो ठीक है। परन्तु वह यदि नाराज हो तो नरकगामिनी हो! फिर भी इतना अत्याचार क्यों? क्या यह केवल बातोंही का प्रेम नहीं है? इस सुख-सौन्दर्य पूर्ण संसारको वह क्यों नहीं देख पायगी? उसे जो कुछ अच्छा लगेगा, उसे क्यों नहीं करने पायगी।

बात यह है, कि सब विषयोंके दो पक्ष होते हैं। कोई भी वस्तु बिल्कुल ही उत्तम नहीं है—आलोकमें भी छाया है—कोई वस्तु बिल्कुलही खराब भी नहीं।—शोकसे ही सहृदयता उत्पन्न होती है। यह केवल एक ही ओरकी बात हुई। जानस्टुअर्ट मिलने भी केवल एक ही ओर दृष्टि डाली थी। इसीलिये उनके ग्रन्थ * में असाधारण शक्तिका परिचय मिलने पर भी, सन्देह दूर नहीं होता। इसका दूसरा पक्ष भी है। समाज पद्धतिके अनुसार स्त्रियां पतियोंकी दासियां होती हैं, परन्तु विचारकर देखो तो, कि यथार्थमें वे हमारी दासियां हैं या हमीं उनके दास हैं? फलतः जहां प्रेम है, वहां एक दूसरेका दास भी है और प्रभु भी—

---

* Mill's "Subjection of Women."

"तुम सरबस घनश्यामके, श्याम तुम्हारे प्राण।"

स्त्री और पतिका यही वास्तविक सम्बन्ध है। तो फिर—वह सुख-सौन्दर्यपूर्ण संसारको क्यों नहीं देख सकेगी? हा अदृष्ट! संसार यदि सुखसौन्दर्य-पूर्ण होता तो कौन दिखलाना नहीं चाहता? परन्तु ऐसा नहीं है, इसीसे तो देखने नहीं देते। जिससे वे प्रसन्न रहें, वह क्या हम लोगोंके लिये असाध्य है? हम यह नहीं चाहते, कि संसार सुखसे उन्हें वञ्चित रखें। पर हम उन्हें संसारके दुःखोंसे बचाकर हृदयकी आड़में रखना चाहते हैं। स्वाधीनतामें क्या है? हम लोगोंके रातदिन छातीसे लगाए रहनेके सामने क्या स्वाधीनता श्रेष्ठ है? जिस मुखपर पसीना देखते ही हम लोगोंको चारों ओर अन्धकार दिखाई देने लगता है, जिस मुखके मलिन होनेसे शिरपर आकाश टूट पड़ता है, आंखोंमें आंसू देखते ही उसे पोंछनेके लिये प्राणतक न्योछावर कर देने की इच्छा होती है—संसारमें क्या इससे अधिक आदर मिल सकता है? इस स्वार्थपर संसारमें उस मनोहर मुखको और कौन ताकेगा? मनमें किसी अभिलाषाके उत्पन्न होते न होते उसे पूर्ण करनेके लिये कौन व्याकुल होगा? स्नेह-सरोवरमें, स्नेह-सलिलमें, आदर-पवनमें सोहागकी हवा खाती हुई, माधुर्यकी ध्वजा उड़ाती हुई जो प्रमोदतरणी नाचती फिरती है, वही क्षुद्रभाव-तरणी संसार महासागरकी उत्तालतरङ्ग-माला-संकुल अतल जलराशिपर शोक-ताप दुःख-नैराश्यकी

प्रबल आंधीसे झकझोरी जाकर डगमगाने लगेगी, यह क्या अच्छा होगा? जिस विषम अनलमें हमलोग रातदिन जलते रहते हैं, उसी अनलमें उस प्रेमपुत्तलिका जलना क्या उचित होगा? जिसके पैरमें कांटा चुभनेसे हृदयमें शेल खिंचता है, जिसको हृदयके भीतर, हृदयसे ढंककर रखने पर भी डर लगता है, कि कहीं चोट न लग जाय, उठते बैठते सहस्रबार जिसे देखा करता हूं—वही मूर्त्तिमती सुकुमारता हिंसा-द्वेष-ईर्षासे कष्ट पायेगी, ज्वाला यन्त्रणासे व्याकुल होगी—प्राण रहते क्या यह देखा जा सकता है? हम मरें, दुःख नहीं; हम संसार ज्वालासे दग्ध हों, दुःख नहीं,—परन्तु वह सुखसे रहे। उसके सुखको सामग्री हमलोग शिर पर लाद कर ला देंगे—हमारे रहते वह दुःख क्यों सहेगी? इतनी यन्त्रणा सहते हैं, इतना दुःख भोगते हैं, वह कुछ भी याद नहीं रहता—उस चन्द्रमुखको देखते ही सब भूल जाता है। पाश्चात्य सभ्यताको नमस्कार है, अमेरिकाके दृष्टान्तको साष्टांग प्रणाम है, हम अपने हृदय-निधिको हृदयमें ही रखेंगे। हृदयमें रखेंगे, हंसते देखकर हंसेंगे, रोते देखकर रोयेंगे—इसके बदलेमें केवल उस मुखको देखेंगे। जब रोग-शोक-दुःख आकर व्याकुल करेंगे तब उस मुखको देखेंगे। जब कोमल आकाशमें तुम उदित होओगे, आकाशकी तरह, ऐसा ही सौन्दर्य्य फैलाओगे, तब तुम्हें देखेंगे और फिर एक बार उस मुखको ओर देखेंगे। जब संसारको

कदर्य्यता देखते देखते आंखोंमें शूल चुभने लगेगा, तब उन्न मुखकी ओर देख आंखें ठंढी कर लेंगे। जिस समय समग्र बाल्य-सुख-स्वप्न पुनर्वार जाग उठेंगे, लड़कपनमें साथ खेलनेवाले साथी याद आयेंगे, उस समय एक बार उस मुखकी ओर देखकर मानों उन्हें यहीं समवेत देखेंगे। जब मनमें परलोककी चिन्ता उपस्थित होगी, तब फिर उसी मुखको देख धैर्य्य धारण करेंगे। जब परदुःखसे कातर हो उन आंखोंसे अश्रु-विन्दु टपक पड़ेंगे, तब उस मुखकी ओर निहार मनुष्यत्वका मङ्गल सीखेंगे और जब वह स्नेहमयी भक्ति-प्रीतिमयी, धैर्य्य सहिष्णुतामयी, रोगीको रोग-शय्याके समीप बैठकर अपनेको परायेके लिये भूल जायगी, तब फिर उस मुखको निहार कर निःस्वार्थ प्रेमका उपदेश ग्रहण करेंगे। इससे अधिक प्रतिदान और कुछ नहीं चाहता। इससे अधिक सुख और क्या होगा? ऐसे पवित्र निधिको जो विलासका उपकरण समझता है, जो रमणीको जघन्य पशुवृत्ति चरितार्थ करनेकी सामग्री समझता है, वह मूर्ख है, नीच है, मनुष्य-कुल-कलङ्क और नर-पिशाच है। किन्तु शशधर! क्या कहनेकी इच्छासे तुम्हारे पास आया था। उसे भूल गया!

यही तो ज्वाला है। रात दिन इसीमें डूबा रहता हूं। मेरा मन, न जाने किस आनन्दसे, न जाने किस दुःखसे, न जाने किस अवसादसे, चिन्तातरङ्गिणीमें तैर तो नहीं सकता,

परन्तु बहता चला जाता है। हृदयाकाशमें न जाने कैसा चन्द्रमा उदित होता है, उसीको ओर एक दृष्टिसे देखता हूं, इधर हाथ पांव ढीले पड़ जाते हैं, बहने लगता हूं। बहते बहते बहुत दूर चला जाता हूं तब मनकी ओर देखता हूं,—मालूम पड़ता है, कि मन खो गया है। ऐसा जंचता है, कि गया, बिलकुल गया। मनके ऊपर स्वत्व तो बहुत दिन हुए चला गया। केवल अधिकार रह गया है, वह भी जानेकी तैयारी कर रहा है। यही तो संसारमें खराबी है। वस्तु खो जाती है—बड़े यत्नसे रखने पर भी खो जाती है। आंखोंके सामने रखने पर भी खो जाती है। छातीसे लगा रखने पर भी खो जाती है। और इस दुर्गम अरण्यमें—इस अथाह समुद्रमें वस्तुके खो जानेपर उसका पता ही नहीं लगता। इस संसाररूपी प्रवासमें आनेके समय प्रकृति जननी ने बहुत कुछ साथ कर दिया था—सरलता, सहज प्रफुल्लता, क्षिति-व्यापकता, उत्साह, विश्वव्यापिनी आशा, लीलामयी कल्पना आदि कितनी ही चीजें दी थी। प्रवासमें कष्ट न पाऊं इसलिये बहुतसी सामग्री लाकर दी थी। वह सभी खो गईं। एक एक कर नहीं, सब एक ही साथ खो गईं—सब खतम हो गईं। अब चला जाता है, कुछ भी रहता नहीं—कौड़ी सबल केवल प्रवास-यातना की कहानी साथ ले आया हूं। कादम्बिनी! क्या तुम मनुष्योंके पिता हो? किन्तु सन्तानके प्रति पिताका जो स्नेह होता है, वह तुममें कहां

हैं? संसारमें इतना दुःख क्यों है? मनुष्य हृदयको विरह-ज्वालासे क्यों गढ़ा? केवल रोनेका अभिनय करनेके लिये हम लोगोंको इस रंगभूमिमें क्यों भेजा? तुम दयामय हो; तुम इच्छामय हो, तुम सर्व्वशक्तिमान् हो। नहीं जानता दूसरे क्या सोचते हैं, किन्तु मैं इसे समझ नहीं सकता। दया, इच्छा, शक्ति—इनके रहते—संसारमें दुःख क्यों है? कौन नहीं स्वीकार करेगा, कि संसारमें दुःख नहीं? सुतरां ये तीनों बातें भ्रम-युक्त हैं। यदि ईश्वर दयामय हैं, तो जब हम लोग दुःखके भारसे दबने लगते हैं, तब अवश्य ही हमारे दुःखका विमोचन करनेकी इच्छा करेंगे—नहीं तो फिर दया ही कैसी? "जो नाम करुणा करो न मेरी, तो बने हो करुणानिधान कैसे?" दुःखीके दुःख-विमोचनकी इच्छा ही दया है। प्रतिरोध न होने पर अवश्यही वह इच्छा कार्य्यरूपमें परिणत होगी।

ईश्वरकी इच्छामें कोई प्रतिबन्धक नहीं रह सकता, अत-एव उनकी इच्छा अवश्य ही कार्य्यमें परिणत होगी। किन्तु ऐसा नहीं होता, मनुष्यका दुःख नहीं मिटता, जो जिसका भिखारी है, वह उसे नहीं पाता; इसीसे कहता हूं, ईश्वर ऐसी इच्छा ही नहीं करते। वह कैसे दयामय हैं? और यदि उनकी इच्छा करने पर भी हमारा दुःख दूर नहीं होता, तो फिर वे इच्छामय कैसे? कैसे सर्व्वशक्तिमान्—किन्तु क्या कहता था, भूल गया—

वस्तु खो जाती है। खो ही तो दिया। कुछ भी तो बिलकुल विलुप्त नहीं होता। कुछ भी ध्वंस नहीं होता। इस संसारमें आज जो वर्त्तमान है वह सदा था। अणुमात्र भी न्यूनाधिक नहीं होता—केवल संयोगका विश्लेषण होता है—सम्बन्ध छूट जाता है। भगवन्! सम्बन्ध क्यों छूट जाता है? यदि छूटही जाता है तो बिलकुल क्यों नहीं छूट जाता? सुखसे सम्बन्ध छूटता है तो फिर दुःखसे क्यों हो जाता है? साथ साथ यदि सब सम्बन्ध छूट जाता तो अच्छा होता।

पूर्णचन्द्र! और एक दिन—अब वह दिन कहां?—फिर कभी आयेगा ऐसी आशा भी नहीं—बहुत दिन हुए, और एक दिन, खिड़की की राहसे तुम इसी तरह हंस हंस कर, इससे सहस्र गुण अधिक सौन्दर्य्य घरमें बरसा रहे थे, मेरे शरीरपर बरसा रहे थे, मेरे हृदयपर बरसा रहे थे। और किसी पर क्या तुम्हारा सौन्दर्य्यमय प्रकाश नहीं पड़ता? फिर इतने सुन्दर, इतने शीतल, इतने प्रेम और पवित्रतामय क्यों मालूम पड़े थे? और जितने दुःख थे सो तो थेही, परन्तु तब अकेला नहीं था। यह बतानेवाला एक व्यक्ति था, कि तुम्हारी हंसी बड़ी ही मधुर है। तुम्हारी ओर देखते देखते, जिसकी ओर देखनेसे तुम्हें भूल जाता था, अब वह नहीं है। आज मैं अकेला हूं। इस संसारमें मेरे खड़े रहनेको स्थान नहीं है। एकके अभावसे सब अन्धकारमय हो गया है। वह भी एक दिन था और यह भी एक दिन है। इन्हीं

बीचमें न जाने क्या क्या हो गया। ईश्वरकी दयाकी बलि-हारी है! न जाने कितने कोमल हृदय व्यथित हो चुके, कितने मृगनयनोंसे आंसू गिर चुके, कितने बिम्बाधर मुरझा गये, कितने जीवन अन्धकारमय हो गये, कितने हृदय शून्य हो गये, कितने प्रकाश बुझ गये, कितने नक्षत्र अदृश्य हो गये, कितने चांद—तुम्हारी अपेक्षा कितनेही सुन्दर चांद अस्तमित हो गये; फिर नहीं उगे। तुम चन्द्र! जाते हो, आते हो; फिर जाते हो, फिर आते हो। हमारे हृदयाकाशका चांद चला जाता है—जीवन भरके लिये चला जाता है—फिर लौट कर नहीं आता। प्राणाधिके! इस मधुर समयमें एकबार आवो! इस मधुर चांदनी पर मधुर-तर चांदनी फैलाती हुई एकबार आंखोंके सामने आवो! वह हंसी, जो अधरोंसे भागकर नयन-प्रान्तमें छिप जाती थी, वही संसारको मुग्ध करनेवाली हंसी एकबार हंसो। वह कलध्वनि, जिसकी प्रत्येक-शब्दप्रवर्त्तित-वायु-तरङ्ग कर्ण-कुहर द्वारा प्रवेशकर हृदयमें सरस्वतीकी वीणा बजा देती थी, वही कलकण्ठ एकबार सुनावो! वह चितवन जिसका सौन्दर्य संसारको सुन्दर कर देता था, उसी दृष्टिसे इस दग्ध हृदयपर एकबार अमृत वर्षण कर दो। वह लावण्यलीला, जो सायान्हगगनकी भांति पल पलमें नवीन शोभा धारण करती थी, वही महान् शोभा दिखा एकबार इस तापित हृदयको ठंढा करो। यह कभी नहीं सोचा था, कि इतने

प्रेममें विच्छेद होगा। यह स्वप्नमें भी नहीं जानता था कि तुम्हारे बिना भी जीवित रहना पड़ेगा। किन्तु शशि! बादलकी आड़में क्यों छिप गए? देखो, मेरे हृदयमें घन-घोर घटा छाई हुई है—न गरजती है और न बरसती है, केवल अन्धकार कर रखा है। दुःख पानेपर लोग रोते हैं, किन्तु मैं रो नहीं सकता। आंखोंमें आग धधकती है,—हृदयमें आग धधकती है; "लगी है सीनये सोजांमें आतश इस कदर गमकी, कि ठंढी सांस भी लूं तो मेरे मुंहसे धुआं निकले!" एक बूंद पानी नहीं है—शायद अश्रु-प्रस्रवण सूख गया है, रो नहीं सकता! इसी लिये मर जानेकी इच्छा होती है। क्या तुम्हारी शुभ्र रश्मितरङ्गोंमें डूबकर नहीं मर सकता? बादलोंमें मुख क्यों छिपाये हुए हो? इस अपरिस्फुट ज्योत्स्नामें क्या डूबकी नहीं मारी जा सकती? तीव्र ज्योत्स्नाकी अपेक्षा यह अपरिस्फुट कौमुदी, यह धीमी धीमी चांदनी मुझे बड़ी प्यारी लगती है—मेरे हृदयसे इसका बड़ा मेल है। किन्तु शशाङ्क! अब क्या मुंह नहीं दिखाओगे? तो फिर बैठा क्यों हूं? अब तुमसे इतनी बातें जो खोलकर कीं तो तुम्हें भूलनेका नहीं—फिर समय पानेपर तुम्हें देखने आऊंगा। केवल आंखोंसे देखना है—आंखों हीसे देख जाऊंगा। सब इन्द्रियोंको नयनोंमें लाकर, एकबार आंखें ठसकर देख जाऊंगा। मेरे इस दुःखमय जीवनमें यही सुख है। ऐसे ही सदुपवनमें, ऐसी ही निर्जनतामें, ऐसी

ही गम्भीर रात्रिमें, ऐसी ही नीरवतामें, ठीक ऐसे ही अकेला आकर तुम्हें देख जाऊंगा। अकेला आऊंगा, क्योंकि दुःख स्वार्थपर होता है—जो दुःखी होता है, वह निर्जनता ही पसन्द करता है। और जिस दिन बड़े सुन्दर साजसे सज धजकर, खूब सुहाग लुटाओगी, उस दिन इस सुन्दर मुखको देखते देखते एकबार रोऊंगा। पहले नहीं जानता था, कि रोनेमें इतना सुख है। जो नहीं जानता वही अच्छा है। न जाने कब इस हाहाकारसे छुटकारा होगा! हाय! यह जलन कैसे जायगी। कलेजेकी धड़कन और जीकी जलन न जाने कैसे जायेगी।

श्मशानमें ।

यहां सब बराबर हैं। पण्डित, मूर्ख; धनी, दरिद्र; सुन्दर, कुत्सित; महत्, क्षुद्र; ब्राह्मण, शूद्र; अंग्रेज, भारतवासी; यहां सभी समान हैं। नैसर्गिक, अनैसर्गिक, सब वैषम्य यहां तिरोहित हो जाते हैं। चाहे शाक्यसिंह हों, चाहे शङ्कराचार्य्य; चाहे ईसा हों, चाहे रूसो और चाहे राममोहन राय हों, यहां सभी समान हैं—ऐसा साम्य-संस्थापक स्थान संसारमें दूसरा नहीं। इस बाजारमें सब एक भाव बिकते हैं—अति महत् एवम् अति क्षुद्र, महाकवि कालिदाससे लेकर वर्त्तमान समयके तुकबन्द तक एक ही मूल्य वहन करते हैं। इसीसे कहता हूं, यह स्थान धर्म्म-भाव-पूर्ण है,—यह स्थान सदुपदेशपूर्ण है—यह स्थान पवित्र है।

यहां बैठकर चिन्ता करनेसे मनुष्यके महत्वकी असारता समझमें आ जाती है! अहंकार चूर्ण हो जाता है, आत्मा-संकुचित हो जाता है और स्वार्थपरता और नीचताको समझनेमें समर्थ होता हूं। आज हो, कल हो, चाहे दश दिन बाद हो, सभीको आकर इस श्मशानकी मिट्टीमें मिल जाना पड़ेगा। जिस अनभिभवनीय बल-वीर्य्य और दुर्ज्जय अहंकारने

"और पृथिवी नहीं है" कह कर रोदन किया था, वह भी इसी मिट्टीमें मिल गया—तुम हम किस खेतकी मूली हैं? जिस उत्कट आत्माभिमानने यूरोपीय पण्डित-मण्डलीसे अहङ्कार पूर्व्वक कर मांगा था * वह मिट्टीमें मिल गया—तुम्हारी हमारी क्या बिसात है? उस दिन जिस चिन्ताशक्तिने ईश्वरको स्वकार्य्य साधनमें अक्षम कहनेका साहस किया था † वह भी इस मिट्टीमें मिल गयी—तुम हम कौन हैं? जिस रूपान्तरमें ट्रौय् (Troy) जल गया था, जिस लावण्य-रज्जुसे जुलियस् सीजर (Julius Caesar) बंध गया था, जिस पवित्र सौकुमार्य्यसे इस पापी हृदयमें ज्वालानल धधक रहा है, वह सुन्दरी, वह देवी, वह विलास-वती, वह अनिर्व्वचनीया, इसी मट्टीमें परिणत हो गयी—तुम हम क्या चीज हैं? संसार कितने दिनोंके लिये है? जीवन कितने दिनोंके लिये है? इस हृदय नदीके भीतर जल-विन्दुकी तरह जिस इच्छाने उठता है उसीसे नष्ट हो सकता है। आज अहंकारसे मतवाला होकर अपने भाई-को पैरसे कुचलता हूं, किन्तु कल ही ऐसा समय आ सकता है कि शृगाल कुत्ते भी मुझे ठोकरें मारें और मैं उसका प्रतिरोध न कर सकूं! "नगमये बुलबुलसे होता था जिन्हें दौरान-सिर, आम देखे सैकड़ों उनकी लहद पर लोटते।"

* See Lewes' History of Philosophy. Auguste Comte.

† See J. S. Mill's "Three Essays on Religion."

अहंकार क्यों है? अहंकार किस लिये है? इस अनन्त विश्वमें, मैं कौन हूं—मैं कितना हूं—मैं क्या हूं? इस मिट्टीके पुतलेमें अहंकार शोभा नहीं पाता। इसीसे इस स्थानकी याद आनेपर समस्त अहंकार—विद्याका अहंकार, प्रभुत्वका अहंकार, धनका अहंकार, सौन्दर्य्यका अहंकार, ममताका अहंकार, अहंकारका भी अहंकार—समस्त अहंकार चूर्ण हो जाते हैं। और वह दिन तो अपरिहार्य्य है—भागनेसे नहीं बच सकते। जिस श्रीकण्ठ लक्ष्मणसेनने जीवनके भयसे, जन्मभूमिको यवनोंको सौंप, सुखका ग्रास भोजन पात्रमें फेंक तीर्थ-यात्रा की थी, वह भी नहीं बच सका। सुना है, स्वर्गमें वैषम्य नहीं है—ईश्वरकी दृष्टिमें सभी समान हैं। स्वर्ग क्या है, यह नहीं जानता—कभी देखा नहीं और न कभी देखनेकी आशा ही है। किन्तु श्मशान-भूमिका यह उपदेश जीवन्त है। यह स्थान स्वर्गकी अपेक्षा भी बड़ा है। यह स्थान पवित्र है।

और स्वार्थपरता: इसका क्षुद्रत्व भी मालूम होता है! सामने असीम जलराशि अनन्त प्रवाहसे प्रवाहित होती है। पैरोंके तले विपुला धरती पड़ी हुई है। शिर पर अनन्त आकाश फैला हुआ है। उसमें असंख्य सौर-मण्डल, अगणनीय नाक्षत्रिक जगत् नाच रहे हैं; संख्यातीत धूमकेतु इधर उधर दौड़ रहे हैं। हृदयमें अनन्त दुःखराशि, दुःखसागरवत्, मदमत्त मातंगवत् भ्रम रही है। जिस ओर दृष्टि फेरी

जाय उसी ओर अनन्त दीख पड़ता है—मैं अति क्षुद्र हूं—कितना सामान्य हूं ! इस सामान्य और क्षुद्रादपि क्षुद्र वस्तुके लिये इतना आयास, इतने यत्न, इतना विभ्राट, इतना पाप !—बड़ी लज्जाकी बात है ! इस क्षुद्रको केन्द्र बनाकर जो जीवन बीत गया, उसका महत्व कहां ? किन्तु तुम्हारे क्षुद्र होनेपर भी मानव जाति क्षुद्र नहीं हो सकती । स्वीकार करता हूं, कि एक मनुष्य मनुष्य-जाति नहीं है ; किन्तु जाति मात्र ही महत् है । बूंद बूंद जलसे ही समुद्र बनता है ; कण कण वाष्पसे ही मेघ बनता है ; एक एक रेणु बालूसे ही मरुभूमि बनती है ; छोटे छोटे नक्षत्रोंसे ही छाया पथ बना है ; परमाणुसे ही अनन्त विश्व बना हुआ है । एकता ही महत्व है—मनुष्य जाति महत् है । महत् कार्य्यके लिये आत्म-समर्पण करनेमें महत्व है—माना कि व्यक्तिमात्रकी भांति जाति मात्रका भी ध्वंस होता है । इस प्रकारके प्रमाण मिलते हैं, कि आजतक अनेक प्राचीन जातियां पृथिवीसे लुप्त हो गईं एवम् अनेक नवीन जातियोंका आविर्भाव हुआ । किन्तु उससे मेरी क्या हानि है ? जिस दिन मनुष्य जातिका लोप होगा, उस दिन मैं यह बात देखनेके लिये जीवित नहीं रहूंगा, क्योंकि मैं भी तो मनुष्य ही हूं—मनुष्यजातिके अन्तर्गत हूं । न जाने क्या कह रहा था, भूल गया—

यहांपर सबकी समाधि होती है । भले, बुरे ; सत्,

असत्; सब इसी राहसे संसार छोड़ जाते हैं। यह सुखका स्थान है। यहां प्रयत्न करने पर शोक-ताप चले जाते हैं, ज्वाला-यन्त्रणा खतम हो जाती है, सब दुःख दूर होते हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, सब दुःख दूर होते हैं *। और यह भी कहता हूं, कि यह दुःखका स्थान भी है। यहां पर जो अग्नि जल उठती है, वह इस जन्ममें नहीं बुझती। उसमें सौन्दर्य जलता है, प्रेम जलता है, सरलता जलती है, क्रीड़ा जलती है, जो जलनेका नहीं, वह भी जलता है—और उसके साथ साथ दूसरेके आशा, उत्साह, प्रफुल्लता, सुख, इच्छाभिलाष, माया, सब लुप्त हो जाते हैं। इसीसे कहता हूं, यह स्थान सुखकामी है, दुःखकामी है—जो चला जाता है, उसको सुख मिलता है; जो बचा रहता है उसको दुःख मिलता है। इस संसारका यही नियम है—सब

---

* दुःख तीन प्रकारके होते हैं;—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। आध्यात्मिक दुःख दो भागोंमें विभक्त है—शारीरिक और मानसिक। वात-पित्त-श्लेष्माके वैषम्यसे जो दुःख (रोगादि) होते हैं, उनका नाम शारीरिक दुःख है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा, विषाद एवं विषय विशेषके अदर्शनसे जो दुःख होते हैं उनका नाम मानसिक दुःख है। इन दोनों श्रेणियोंके सब दुःख आभ्यन्तरीण-हेतु समुद्भूत हैं इसलिये आध्यात्मिक दुःख कहलाते हैं. बाह्य हेतु समुद्भूत दुःख भी दो प्रकारके होते हैं;—आधिभौतिक और आधिदैविक। मनुष्य, पशु पक्षी, सरीसृप (छातीके बल चलनेवाले जीव) एवं स्थावरके लिये जो दुःख हैं, वे आधिभौतिक कहलाते हैं। यक्ष, राक्षस, विनायक प्रभृति ग्रहोंसे जो दुःख होते हैं, उनका नाम आधिदैविक दुःख है।

अनुवादक [illegible]।

अच्छे भी हैं, सब बुरे भी हैं। कुसुममें सौरभ है, कण्टक भी हैं; मधुमें मिठास भी है, कड़ुआपन भी है; सूर्य्य-रश्मिमें प्रफुल्लता भी है, रोगजनन-प्रवणता भी है*; रमणीकी आंखोंमें सौन्दर्य्य भी है, सर्व्वनाश भी है; धन क्षमता-वृद्धि भी करता है, यौन-निर्व्वाचनकी प्रतिबन्धकता भी करता है†। जगत्में कहीं भी कोई चीज निर्दोष नहीं मिलेगी।

---

* Sunstroke. See Tanner's Practice of Medicine, Vol. I, Page 375.

† The Grecian poet, Theognis, who lived 550 B. C. clearly saw that wealth often checks the proper action of sexual selection. He thus writes :—

"But, in the daily matches that we make,
The price is everything ; for money's sake,
Men marry, women are in marriage given ;
The churl or ruffian, that in wealth has thriven,
May match his offspring with the proudest race ;
Thus everything is mixed, noble and base !
If then [illegible] form and mind,
You find [illegible] kind,
Wonder [illegible] the cause is plain,
And to lament the consequence is vain."

See Darwin's Descent of Man, Part I, Chap. II.
Also Part III, Chap. XX.

यौन निर्व्वाचन = Sexual selection.

सभी चीजें भले-बुरेसे मिली हुई हैं। अतएव प्रकृतिके निरीक्षणसे जहांतक जाना जा सकता है, उससे तो यह प्रतीत होता है, कि इस परिदृश्यमान जगत्‌का आदि कारण भी भले-बुरेसे मिला हुआ है; अथवा जिन दो शक्तियोंसे यह जगत् समुत्पन्न है—उनमें एक अच्छी और दूसरी बुरी है; एकमें स्नेह और दूसरीमें घृणा है; एकमें अनुराग और दूसरी विसर्ग है; एकमें आकर्षण; दूसरी प्रतिक्षेप है। * किन्तु न जाने क्या कहते कहते क्या कहने लगा—

यह संसार एक महाश्मशान है! अविराम कालस्रोत प्रति दिन प्रति दण्डमें, प्रति मुहूर्त्तमें, पल पलमें सब बहाकर विस्मृतिके गर्भमें फेंक देता है। क्षणभर पहले जिस वस्तुको देखा है, वह अब नहीं। प्राण देनेपर भी वह नहीं मिल सकता। इस समय जो वर्त्तमान है, क्षण भरमें वह नहीं रहेगा—समस्त संसारमें ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। कहां चला जायगा, कहां आता है, इस विषयमें तुम जितना जानते हो, मैं भी उतना ही जानता हूं एवं जितना हम तुम जानते हैं उससे अधिक कोई भी नहीं जानता। सब चला जाता है—कुछ भी नहीं रहता—रहती है केवल कीर्ति।

* Attraction and Resistance of Matter. This theory originated with Laplace; it has been expounded be Herbert Spencer.

कीर्त्ति अक्षय है। कालिदास चले गये, शकुन्तला है; शेक्सपीअर चला गया, हैमलेट् है; वाशिङ्गटन (Washington) चला गया, अमेरिकाकी स्वाधीनताकी ध्वजा आज भी फहरा रही है। रूसा (Rousseau) चला गया, साम्यका दुन्दुभि-नाद आज भी समस्त संसारमें गूंज रहा है। कीर्त्ति रह जाती है और अकीर्त्ति भी रह जाती है। मनुष्यकी भलाई बुराई उसके साथ चली जाती है किन्तु कीर्त्ति और अकीर्त्ति-का विनाश नहीं होता। वाशिङ्गटनका स्वदेशानुराग उसके साथ चला गया। शेक्सपीअरका चरित्रदोष भी उसके साथ ही चला गया*। किन्तु उन लोगोंने मनुष्य जातिका जो

---

* M. Villemain says—"Every year, it is stated, he went during the summer to spend some of his time at Stratford, with his wife and children and his aged father. The poet's taste for the beauties of Nature, his vivid impression of the green landscapes of England, would alone indicate that he was in the habit of seeking rural repose. In his own time, however, another motive was attributed for these frequent voyages; it has been stated that, upon the road to his native place, he was fond of stopping at the Croun in Oxford, the hostess of which, remarkable for her elegance and beauty became the mother of the poet Demenant. Shakespeare, who

उपकार किया है, उसका सौरभ निशिदिन बढ़ रहा है। इसीसे कवि कह गया है :—

"कहैंगे सबै नयन नीर भरि भरि,
पाछे प्यारे हरिचन्दकी कहानी रहजायगी।"

यही इस जगतका सार तत्व,—धर्म्मकी मूलभित्ति और पुण्यका स्वर्ण-सोपान है। हां, क्या कहता था ?—

यह संसार एक महाश्मशान है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो इस महाश्मशानके धधकते हुए चितानलमें भस्म न हो जाये। जड़ प्रकृति किसीकी परवाह नहीं करती ; जो सामने पड़ता है उसीको जलाकर समानरूपसे धधकती हुई ; समान रूपसे हंसाती हुई चली जाती है। किञ्चित अन्ध-कारमें झलमलाते हुए तारे इस विश्वव्यापी प्रचण्ड अनलकी चिनगारियोंके सिवा और कुछ भी नहीं हैं। इस संसारमें

---

was an intimate guest, was godfather to this child, who was said to belong to him by a closer tie, and who subsequently took a singular pride in boasting of this descent. We are better able to understand after this the zeal of the royalist Demenant for the republican Milton. It [illegible] in his eyes a double debt of poetic [illegible]." See Alfonso de Lamartine's Biographies and Portraits of some Celebrated People. Vol. I. Essay on Shakespeare. See also Richardson's life of Sir William Demonant &c. &c.

आग कहां नहीं है? निर्मल चन्द्रिकामें, प्रफुल्ल मल्लिकामें, कोकिल काकलीमें, कुसुम सौरभमें, मृदु पवनमें, चिड़ियोंके चहचहानेमें, रमणीके आननमें, पुरुषके हृदयमें—आग कहां नहीं है? ऐसी कौनसी वस्तु है, जिससे मनुष्य जलता नहीं? प्रेम करो, जलना पड़ेगा; प्रेम न करो, उससे भी अधिक जलना पड़ेगा। पुत्र कन्या न होनेपर शून्य गृह देख जलना पड़ता है, यदि बाल बच्चे होगये तो संसार-ज्वालासे जलना पड़ेगा। केवल मनुष्यही क्यों, समस्त जीव जलते हैं। प्राकृतिक निर्व्वाचनमें, पात्र निर्व्वाचनमें और सामाजिक निर्व्वाचनमें पारस्परिक अत्याचारसे सभी जलते हैं। कौन नहीं जलता? इस संसारमें आकर सुस्थमन और अक्षत शरीरसे कौन गया है? फिर दुःखपर महादुःख यही है, कि इस पापी संसारमें सहृदयता नहीं, सहानुभूति नहीं, करुणा नहीं। यह अनन्त जीव-समूह इस महावह्निमें अस्थिमज्जा सहित जलकर भस्म हो रहा है;—जड़ प्रकृति केवल ताना मारती है। शशधरके चिर-प्रसन्न चेहरे पर क्या कभी विषाद चिन्ह देखा है? नक्षत्र-समूहके सोहागके मृदु कम्पनमें क्या कभी कमी-वेशी देखी है? काकोलिनीके कलनिनादमें क्या कभी स्वर-विकृति देखी है? नव कुसुमित लताकी डोलनेमें क्या कभी तालभङ्ग देखा है? हम जलते हैं—किन्तु यह देखो, वृक्ष समूह करतालि दे दे नाच रहा है—सुनो, समीरण हंस रहा है—छि-छि-छि।

हाय! इस तरह और कितने दिन जलता रहूंगा? कब वह यन्त्रणा छूटेगी? क्या फिर कभी तुम्हें नहीं पाऊंगा? आज, कल, दश दिन बाद, जन्मजन्मान्तरमें, युग-युगान्तरमें—क्या फिर तुम्हें कभी भी न पाऊंगा? न पाऊं, क्या भूल भी न सकूंगा?

मनमें विश्वास है, कि जिस दिन सैकत-शैय्यापर अन्तिम निद्रा लूंगा, उसी दिन सम्भवतः उसे भूल सकूंगा—सम्भवतः यह आग उस दिन बुझ जायेगी—सम्भवतः उसको भूल जाऊंगा। ऐसा ही एक विश्वास बंध गया है, इस लिये समय समय पर मरनेकी इच्छा होती है। साथ ही यह भी सोचता हूं, कि उसे भूलना पड़ेगा, उससे सम्बन्ध छूट जायेगा, इस लिये मर भी नहीं सकता। यह जानता हूं, कि इस जन्मके लिये वह आंखोंकी ओट होगयी है, परन्तु मेरे हृदयके गूढ़तम प्रदेशमें तो वह वर्तमान है। वह जिस स्थान पर है, वह स्थान पवित्र है—उस मन्दिरको जान-बूझकर क्यों तोड़ूं? जीते जी क्या वह तोड़ा जा सकता है? वह जब तक मेरी चिन्ताका विषय है; जब तक मुझे केवल उसीकी चिन्ता है; तब तक वही चिन्ता बनी रहे। यद्यपि बड़ी यन्त्रणा भोगता हूं परन्तु क्या करूं? यदि उसके लिये कष्ट न सह सका तो इस मनुष्य-जन्मको धिक्कार है। इस व्यर्थ प्रेमको धिक्कार है। इस हृदयको धिक्कार है, ऐसे प्रणय और परिचय को धिक्कार है। किन्तु

सम्भवतः फिर भी उसे पाऊंगा। शायद परलोकमें हम दोनों एक हो जायंगे। सांसारिक परिवर्त्तन-परम्परा इस मट्टीको उस मट्टीमें मिला सकती है—उस कमनीय कलेवरके परमाणुओंके साथ शायद इस तुच्छ भस्मके परमाणुओंका मेल हो सकता है। दोनों देहोंके बिखरे हुए उपकरणोंके मेलसे पुनः एक नयी सत्ताकी सृष्टि हो सकती है। इसीसे कहता हूं कि सम्भवतः परलोकमें हम दोनों फिर एक होंगे। बस भोलानाथ! उससे और मुझसे—जो प्राणका प्राण, जीवनका जीवन, आंखोंकी आंख, और हृदयका हृदय है, उससे और मुझसे—जो संसारकी माया है, जीवनका इन्द्रजाल है, गृहकी आकर्षणी शक्ति है और जो मेरी "वही" है उससे और मुझसे—जो संसारान्धकार के लिये चन्द्रमा, जीवन-मरुभूमिमें ओएसिस, भवसागरकी तरणी और जीवन पथकी धर्मशाला है, उससे और मुझसे—जो पृथिवीका सार, स्वर्गलोककी यमुनानदी, इहलोकका सर्व्वस्व और परलोकके लिये सर्व्वस्व से भी अधिक है, उससे और मुझसे—जो गृह-कुञ्जकी सुखलता है, चिन्तासरोवर की प्रफुल्ल नलिनी और आशालताका संश्रय-तरु है, उससे और मुझसे—संसार-प्रवासकी स्नेहमयीसंगिनी, जीवनमरुभूमिका शीतल जलपूर्ण सरोवर, भूत भविष्यत्के अन्धकाराकाशका उज्ज्वल नक्षत्र, हृदय-काननका विकसित कुसुम, उससे और मुझसे—जो आशामें विश्वास, मायामें मोह, प्रेममें कवित्व,

दुःखमें सान्त्वना है, सुखमें वही—मेरी—वही, उससे और मुझसे सम्भवतः फिर भेंट होगी। वह मरकर मट्टी हो गई, मैं भी मरकर मट्टी होऊंगा; दोनोंकी मट्टी एक होगी। मेरी देहके परमाणुओंसे उसकी देहके परमाणुओंका संघटन होगा। उसके और मेरे एक होनेसे एक नई सत्ताका आविर्भाव होगा। जो होगा, वह बुरा हो सकता है, किन्तु क्या ही सुखका मिलन होगा! कैसे सुखका संघटन होगा! मेरी आदरिणी, मेरे सुहागकी सुहागिन, अतीतके कोमल आकाशका इन्द्रधनु, वर्त्तमानकालके अन्धकार गगनकी सौदामिनि—कैसा आनन्दमय मिलन होगा! दोनों एक होकर एक नयी सत्ता होंगे। अहा! कैसा सुखका सम्मिलन होगा! कौन मूर्ख जीवकी देहान्तर प्राप्तिमें सन्देह करता है? आत्माका शरीर परम्परावस्थान कैसे असम्भव है? आत्मा क्या है? शरीर-यन्त्रकी गति मात्र है। इसीसे कहता हूं, कि शरीरका प्रत्येक परमाणु आत्मा है*। देह

---

* हर्बर्ट स्पेन्सर कहता है, और हम लोग भी प्रत्यक्ष देखते हैं, कि एक क्षुद्र बिन्दुसे सन्तानोत्पत्ति होती है, तथा वही वीर्य्य-बिन्दुसे उत्पन्न बालक पिताके रोग, प्रकृति, दोष और गुणको प्राप्त करता है। सर गाल्टनने अपनी "Hereditary Genius" नामक पुस्तक द्वारा सिद्ध किया है कि, प्रतिभा तक हम लोग पितासे पाते हैं। अतएव यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उस वीर्य्य-बिन्दुमें पिताकी मानसिक और शारीरिक, दोनों ही प्रकृतियां हैं। जो इसे स्वीकार करेंगे, उन्हें शायद हमारी उपरोक्त बातमें आपत्ति न होगी।

विशेषके बिखरे हुए परमाणुओंसे दूसरी देहकी सृष्टि होनेमें विचित्रताही क्या है? मनुष्य मरकर वृक्ष हो सकता है, तृण हो सकता है, पत्थर हो सकता है, मनुष्य हो सकता है, नक्षत्र हो सकता है, पशु हो सकता है, और कीड़ा हो सकता है। पिथागोरस (Pythagoras) पूर्व्वजन्ममें एजैक्स (Ajax) था, इसमें विचित्रता ही क्या है? जो भीरु मनुष्य साहस कर देशसे बाहर नहीं जाता, उसके शरीरमें एकिलिस (Achillis) वा सिकन्दर (Alexander) सीज़र (Cæsar) वा हैनिबोल (Hannibal); नेपोलियन (Napolean) वा इपैमिनोन्डस (Epaminondas) ; ब्रे सिडस् (Brasidas) वा लाइसेन्डर (Lysander) अथवा भीम वा अर्जुनका देहांश हो सकता है। मोहनके शरीरमें सम्भवतः काल्डेरन् (Calderon) अथवा लोप डि वेगा (Lope de vega); गेटे (Goethe) अथवा शीलर (Schiller) ; पिट्रार्क (Petrarch) अथवा डान्टे (Dante); कार्नेलो (Corneille) अथवा रेसाइन (Racine) ; शेक्सपीअर अथवा कालिदास ; होमर (Homer) अथवा वर्जिल (Virgil) ; व्यास अथवा वाल्मीकिकी आत्मा हो सकती है। मोहनकी देह स्कालिगर (Scaliger) अथवा मैगलियाबेकि (Magliabecchi) की विशिष्ट देहके उपकरणोंसे बनी हुई हो सकती है। हो सकता है, कि इस लेखनीमें वोलटेअर (Voltaire) अथवा रूसा (Rousseau) हो। इस दावातमें शाक्यसिंह अथवा

कोम्त (Comte) हो। इस हृदयमें वही हो सकती है जिसके लिये यह लालायित है। मनुष्य देहका आणविक परिवर्त्तन सर्व्वदा होता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति हर सातवें वर्ष नया कलेवर धारण करता है। हो सकता है कि, उसी नियतप्रवाहित परिवर्त्तन-प्रवाहमें बह कर उस देहके परमाणु इस देहमें आकर मिलते हों। जगत्‌में कुछ भी आश्चर्य्य नहीं है और सभी आश्चर्य्य-पूर्ण है। जिसके चले जानेसे जगत्-संसार अंधकारमय हो गया है, वह लौट आ सकती है—युगयुगान्तरमें, वा कल्पकल्पान्तरमें वह निष्कलङ्क चन्द्रमा आकर फिर इस गगनमें शोभायमान हो सकता है। पुन-र्जन्म असम्भव नहीं है। उसमें—उस अमूल्य निधिमें—जो कुछ था, वह सब है क्योंकि कोई भी वस्तु विलुप्त नहीं होती। सब हैं, परन्तु एकत्र नहीं है। सब उपकरण जगतमें विराजमान हैं; जिस दिन वे एकत्र होंगे, उस दिन—अहा! स्मरण होते ही हृदय नाच उठता है, देह रोमाञ्चित हो उठती है—उस दिन संसारमें फिर वह सुकुमार, मनो-हर और सुन्दर कुसुम खिलेगा—दशों दिशाओंमें उजाला फैलाता हुआ, जगतसे ले जगदान्ततक एक सौरभ-तरङ्ग बहाकर विश्वको एक कोनेसे दूसरे कोने तक अपने पवित्र स्रोतसे धोता हुआ खिल उठेगा। पुनर्जन्म असम्भव नहीं। जीव और देहकी परस्परप्राप्ति असम्भव नहीं है। हिन्दू धर्म्ममें कोई ऐसी बात नहीं है, जो बिलकुल ही भ्रान्त हो

—कोई ऐसा मत नहीं, जो हंस कर उड़ा दिया जा सके। चिन्ताशील मात्र स्वीकार करेंगे, कि हिन्दूधर्म्म सर्व्वोत्कृष्ट धर्म्म है। संसारमें यदि कोई धर्म्म मानने योग्य है तो वह हिन्दूधर्म्म ही है। यह सुनकर हंसी आती है, कि ईश्वर निराकार है। देहरहित चैतन्य जगतमें कहीं भी नहीं दिखाई देता। अतः जब तक दिखाई न दे तब तक कैसे माना जा सकता है? यह बात मूर्खों कीसी हैं कि जगत्-कारण इच्छामय है;—एक कारणसे एक ही कार्य्य होता है; जिस कारणसे यह जगत् समुत्पन्न हुआ है, उससे दूसरी सृष्टिका होना असम्भव है। ईश्वरको सर्व्वशक्तिमान् और दयामय कहना भी वातुलता ही है। अपने हृदयसे पूछो। जीव पृथिवीपर आयगा—वह मर सकता है, अकर्मण्य हो सकता है; पृथिवीका भार मात्र होसक्ता है,—किन्तु केवल उसके संसारमें प्रवेश करनेके लिये, किसी दूसरे उत्कृष्टतर जीवको * मृत्यु-यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। इस यातना निबन्धनसे कुछ लाभ नहीं होता, कोई आपद नहीं टलती, कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, किसीका सुख नहीं बढ़ता है और न किसीका दुःख ही घटता है—तो भी यह यम-यातना भोगनी ही पड़ती है †। व्यर्थ

---

* Oh fairest of creation ! last and best of all God's works !"—Milton's Paradise lost Book IX.

† जगतमें जो कुछ होता है, वह अवश्य ही ईश्वरकी इच्छासे होता है। सन्तानप्रसवके समय स्त्रियोंको जो प्रसव वेदना होती है, वह भी ईश्वरके अभिप्रायसे

कष्ट देना ही जिसका अभिप्राय है, वह निष्ठुर है; निर्दय है—किन्तु क्या कहता कहता क्या कह रहा हूं—हां, वह फिर आ सकती है। जो चली गयी है—जगत्‌के माधुर्य्यको छीन कर, हृदयकी तहतह में आग जलाकर, सोनेके संसार को खाक बनाकर, सुखके पात्रमें विष ढालकर, हृदयके भीतर और बाहर नैराश्य फैलाकर, जो भाग गयी है, वह लौट कर आ सकती है। किन्तु मैं पागल तो नहीं हो गया? कहां वह और कहां मैं? कहां वह प्रीति? कहां वह सुन्दर संसार? कहां वह चिरप्रेमोच्छ्वास परिप्लुत हृदय? हाय! मैं मर क्यों न गया? जब वह आंखोंमें धूल झोंक कर भाग गयी तब उसके पीछे पीछे क्यों न गया? जिस समय उसकी मुखपर मृत्युकी विकट छाया पड़ी उस समय विष क्यों न खा लिया? वह चिता, जो नैशान्धकारको दग्धकर, भागीरथीके तटको उद्भासित कर जल रही थी, उसमें क्यों न कूद पड़ा? जब उस सोनेकी देहकी दग्धावशिष्ट हड्डियोंको हृदयपर पत्थर रख भागीरथीमें बहाने गया था, तब उसकी साथ ही स्वयं भी क्यों न बह गया? अथवा फांसी लगाकर क्यों न मर गया?

ही होती है। यह दारुण यातना निष्प्रयोजन है, क्योंकि उसके निबन्धनसे कोई लाभ नहीं देखा जाता। निष्प्रयोजन क्लेश देना निष्ठुर का काम है—अतएव ईश्वर निष्ठुर है।

See J. S. Mill's "Three Essays on Religion." On Nature.

हृदय व्यथित हुआ ; आंखोंके आगे अन्धेरा छा गया। कातरस्वरसे—उद्भ्रान्तभावसे पुकारने लगा—"प्राणाधिके, तुम कहां हो ? मेरे हृदयका प्रकाश, मेरे आंखोंकी मणि, मेरा सर्व्वस्व—मेरे सर्व्वस्वका भी सर्व्वस्व, जीवन-सर्व्वस्व, तुम कहां हो !"—दूसरे किनारेसे कठोर प्रतिध्वनिने कठोर स्वरसे उत्तर दिया—'अब कहां' *। उस कठोर स्वरने आकाशमें गूंजते हुए कहा—'अब कहां'। शून्यमें विलीन होते हुए उस कठोर स्वरने अस्पष्ट शब्दोंमें कहा—'अब कहां'। मैं स्तम्भित हो गया। क्षणभरके लिये अन्तर्जगत्का अस्तित्व विलुप्त हो गया। हाय ! अभागे विधाताको प्रतिध्वनिकी सृष्टि करनेके लिये किसने कहा था ?

---

* Hark to the hurried question of Despair, "Where is my child ?"—an Echo answers—"Where ?"—

Byron, The Bride of Abydos

I came to the place of my birth and cried, "The friends of my youth, where are they ?"—and an Echo answered,—"Where are they ?"—From an Arabic Ms—Byron's Note on the above couplet.

नव-वसन्त समागम ।

—:०:—

फिर वसन्त आया है। फूलोंके साजसे सजकर स्वप्नकी तरङ्गोंके साथ फिर नव-वसन्त आया है; किन्तु, वह कहां? पहले प्यार करता था, अब प्यार नहीं करता, इसीसे वसन्त आया है; प्यार करता रहता तो शायद वसन्त न आता। जिसे पहले प्यार करता था, उसे अब भी प्यार करता हूं और सदा प्यार करता रहूंगा, किन्तु वह तो नहीं आई? जिसको प्यार नहीं करता, वह क्यों नहीं आयेगा?—वह आता है—जिसको प्यार करता हूं, केवल वही नहीं आती। वृक्षोंमें नये पत्ते निकल आये, डालियोंमें नये फूल खिल गये, भ्रमरोंका झुण्ड एकत्रित हो गया, वायुके प्रत्येक प्रवाहमें सुगन्धि फैलने लगी, नवीन श्यामल शोभासे जगत मतवाला हो गया, किन्तु—इस श्यामल शोभाकी शोभा नहीं आयी? आशा नहीं आयी? उत्साह नहीं आया? प्रफुल्लता नहीं आयी? सुखका चांचल्य नहीं आया? जो माधुरी, आशाकी आशा, उत्साहका उत्साह, प्रफुल्लताकी प्रफुल्लता, सौन्दर्य्यका सौन्दर्य्य, माधुर्य्यकी माधुरी और वसन्तका भी वसन्त थी—वह नहीं आयी? ऋतुराज, क्या जलाने आये हो? जलेपर नमक!—क्या इसमें भी कोई बहादुरी

है ? दुखीके दुःखको दूर कौन नहीं कर सकता ? जो सुखको दूर कर सकता है, वही धन्य है। तोड़ तो सभी सकते हैं, जो गढ़ सकता है, वही महत् है। कहानीमें सुना था—कोई राजकुमार बहता हुआ किसी मालनकी फुल-वारीके सामने आ लगा। उस फुलवारीमें बारह वर्षों से फूल नहीं खिले थे, आज अकस्मात् फुलवारी फूलोंके बोझसे दबने लगी। अविराम कालस्रोतमें बहता हुआ ऋतुराज भी आज इस फुलवारीमें आ गया है किन्तु सूखे दृक्षोंमें बौर नहीं लगी? भ्रमर नहीं गूंजे? सोहागिनी लता सौन्दर्य्य के भारसे भारी होकर नहीं झूमती? प्रत्येक सूर्य्यरश्मि-सम्पातके साथ रूपकी लहर नहीं उठी? प्रति मृदुसमीरण हिल्लोलमें सौरभतरङ्ग नहीं उठती? जिसको फिर पाकर सुखी हो सकता हूं, वह कहां? प्रकृति बहुतसी चीजें लौटा सकती है, किन्तु सब नहीं लौटा सकती। जड़जगत्की अनेक वस्तुएं जाती हैं, और लौट भी आती हैं; किन्तु अन्तर्जगतका जो कुछ जाता है, वह एकदम चला जाता है—उड़ जाता है—धुल जाता है—मिट जाता है—जन्म भरके लिये चला जाता है—कभी भी नहीं लौटता। वसन्त फिर आया, किन्तु वह चिरवसन्तमयी नहीं आयी। शिव ! शिव ! आकाशके तारे अनन्त-विस्तृति मध्यगत, अनन्त-गगन-विहारी, मृतपिण्ड हो गये हैं—अब वह स्वर्गके प्रकाश, पवित्रता, और शोभाको पृथिवीपर लानेवाले छोटे

छोटे छिद्रकी भांति नहीं दीख पड़ते। कोकिल साधारण पक्षी हो गया है—अब भ्रमणशील स्वर * नहीं जान पड़ता। यह संसार यन्त्रणा कारागार हो गया है—अब सुख निकेतन नहीं जान पड़ता। हृदयके गूढ़तम प्रदेशको उज्ज्वल करता हुआ गृहकुञ्जमें एक फूल खिल गया। सोचा, कि जीवन-वसन्तका यह प्रथम फूल है। आशा की, कि और भी कितने ही खिलेंगे। किन्तु निदारुण विधाताने दिखा दिया कि वही अन्तिम फूल था। प्रेमोद्यानमें केवल एक ही बार फूल खिलता है। मेरे प्रेमके वसन्तमें अकस्मात् ग्रीष्म आगया। मेरा प्रिय फूल योंही मुर्झा गया। बड़े सोहागकी कोयल कूकना आरम्भ करनेके साथ ही नीरव हो गयी। बड़े सुखकी आशालता अचानक छिन्न होगई। जो जाने योग्य नहीं था, वह चला गया—परन्तु यह पापी प्राण नहीं गया? समीरण धीरे धीरे रो रहा है—हाय, हाय, हाय! यह मृदु पवन, कितनी दुःखकी लहरें, नैराश्य-कातरता, विस्मृति, स्वप्न-प्रवाह और जन्मान्तरोंके कितनेही अस्पष्ट

---

* "O Cuckoo! shall I call the bird,
Or but a wandering voice?"
Again—
Even yet thou art to me
No bird, but an invisible thing,
A voice, a mystery—Wordsworth.

भावोंको लाकर कलेजेपर रख देता है। न जाने कौन अचानक आकर, निश्वासका पथ रोक कर खड़ा हो जाता है—बहिरस्थ वायुको आसानीसे प्रवेश नहीं करने देता। एक आह—एक दो तीनबारमें खींचनी पड़ती है। प्राण—धक्, धक्, धक्—जलता है। जिधर देखता हूं उधरही अग्नि—धक्, धक्, धक्—जलती है। धमनी धमनीमें आग—धक्, धक्, धक्—जलती है। प्रति लोमकूपमें, प्रति इन्द्रियमें, प्रति शोणित-विन्दुमें आग—धक्, धक्, धक् जलती है। और इस पापी हृदयमें जो होता है, उसे क्या कहूं? कालानल, प्रलयानल, नरकानल, अनलका अनलतरचित अनल—धक्, धक्, धक्—जल रहा है।

प्राणाधिके! बिलकुल गड़बड़ मचा, जीवनको अंधकारमय और शून्यकर, अधमको इस प्रकार बेहालकर चला जाना तुम्हें कदापि उचित नहीं था। तुम्हारी याद आनेपर, कहां तो आंखोंके सामने चांदनीको खिलना चाहिये था, कर्ण विवरमें दिव्य संगीत-हिल्लोलको प्रवेश करना चाहिये था, नासिकामें पारिजात-सौरभकी सुगन्धको समाजाना चाहिये था, हृदयपर अमृतवर्षण होना चाहिये था, अमर होनेकी इच्छाका होना चाहिये था, और कहां दुःख हो रहा है—तुच्छ प्राण क्यों नहीं निकल जाते? कहां यह इच्छा होती है—इस माटीकी देहको, इस मांसास्थिशोणित-स्तूपको छोड़कर सायान्ह-समीरण हो जाऊं। समीरण होकर, बन बनमें, घर घरमें,

तीर तीरपर, कुञ्ज कुञ्जमें, कुसुम कुसुममें, आकाश आकाश-में, नक्षत्र नक्षत्रमें, जहां जहां कोई सुन्दर वस्तु देख पाऊं वहां वहां मनका दुःख गाता फिरूं! नहीं तो लालसा होती है—मनुष्य देह त्यागकर पपीहा बन, नील गगनको एक ओरसे दूसरी ओर तक विरह संगीतसे गूंजा दूं। प्रिये, प्राणाधिके! मेरे मनमें क्या हो रहा है, वह मैं ही जानता हूं। पराई पीड़ा कोई नहीं जानता। मेरे हृदयमें जो कुछ हुआ है, मेरा ही मन उसका साक्षी है।

न जाने किस पापसे रावणी चिताको हृदयपर लिये घूमता हूं। न जाने किस पापसे जीवमात्रका जीवन दुःखका जीवन हो चला है। न जाने किस पापसे शरीरके भीतर और बाहर हाहाकार मच रहा है। प्रेम करना क्या पाप है? प्रणय क्या दोषावह है? नहीं नहीं; जो प्रणयको दोषावह सोचता है वह मूर्ख,—महामूर्ख है, गण्डमूर्ख गोमूर्ख और हस्तिमूर्ख है। मनुष्य जीवनके जितने उद्देश्य हो सकते हैं, उन सबको अपेक्षा प्रणय महत् है। परवर्त्तीकालकी मनुष्यप्रकृति, पूर्ववर्त्तीकालकी प्रणय-संघटना सापेक्ष है। केवल व्यक्ति विशेष की बात नहीं है, मनुष्यजातिका शुभाशुभ प्रणयपर निर्भर करता है *।

* "The final aim of all love intrigues, be they comic or tragic, is really of more importance than all other ends in human life. What it all turns upon is

इसीसे कहता हूं, कि प्रणय धन्य है—प्रणय नमस्य है—प्रणय पूज्य है—प्रणय धर्म्म है—प्रणय ही देवत्व और ईश्वरत्व है। स्वार्थत्याग यदि देवभाव है, तो यह मुक्त कण्ठसे कह सकता हूं, कि प्रणय व्यतीत और कहीं भी देवभाव नहीं देखा; प्रणय व्यतीत किसी देवत्वका होना भी स्वीकार नहीं करता। केवल यही नहीं। मनुष्य की अनेक महत् कीर्त्तियां भी प्रणयमूलक हैं। संगीत-विद्याका मूल प्रणय है *; भाषाका मूल प्रणय है †; किन्तु क्या

---

nothing less than the composition of the next generation. It is not the weal or woe of any one individual, but that of the human race to come, which is here at stake."

Schopenhaner.

* Mr. Darwin thinks that "Musical notes and rhythm were first acquired by the male or female progenitors of mankind for the sake of charming the opposite sex." Herbert Spencer concludes that the cadences used in emotional speech afford the foundation on which music has been developed. But the question arises why were cadences used in emotional speech?—and we may adopt Darwin's explanation for want of a better one. If mankind acquired musical notes for the sake of charming the opposite sex, musical notes would of necessity

कह रहा था भूल गया—किस लिये यह दारुण यातना सहता हूं? जो कहा करते हैं, कि यह संसार परीक्षा-का स्थान है, वे बड़े भ्रान्त हैं। परीक्षा कैसी? ईश्वर ने हमें जैसा बनाया है वैसे ही हम हुए हैं—फिर परीक्षा क्यों? सृष्ट पदार्थ के गुणागुणकी परीक्षा द्वारा स्रष्टाकी क्षमताकी ही परीक्षा होती है। यदि मेरी घड़ी किसी थोड़े कारणसे बिगड़जाय तो इसमें घड़ीका क्या अपराध है? केवल यही कहा जा सकता है, कि निर्म्माता

---

be firmly associated with some of the strongest passions an animal is capable of feeling, and would consequently be used instinctively, or through association, when strong emotions were expressed in speech.—Darwin's Descent of Man. Part III, Ch. XIX.

† This is also Darwin's opinion. He says '—We may believe that musical sounds afforded one of the bases for the development of language.

Lord Monboddo in his Origin of Language says that Dr. Blacklock thought "That the first Language among men was music and that before our ideas were expressed by articulate sounds, they were communicated by tones, varied according to different degrees of gravity and acuteness.*

चतुर नहीं है। हमारे पापोंके लिये भी ईश्वर हमें दायी नहीं बना सकता। हममें जो कुछ है, हमारे सिवा संसारमें जो कुछ है, सब उसीने बनाया है—यह हृदय तुमने गढ़ा है, यह संसार तुमने गढ़ा है, तथा हृदय और संसारमें जो सम्बन्ध है, उसके भी संस्थापक तुम्ही हो—तब हमारा पाप क्या है? यदि संसारमें पाप है, तो उसका दायी कौन है? तुम या हम? स्वीकार करता हूं, कि हम लोगोंमें बहुतसे पशुभाव हैं, किन्तु हम लोगोंको पशु अथवा पशुओंके अति निकट योनिमें क्यों बनाया? * किन्तु—जहन्नुममें जाय! क्या दुखीके मुंहकी ओर कोई ताकना भी नहीं जानता? योंही मनके दुःखसे सम्मोहित हो रहा हूं, तिसपर भी पासकी शाखा पर बैठकर कोयल कूक रही है। न जाने क्यों कोयलकी कूकने मेरे कानोंकी राहसे मर्ममें प्रवेशकर, हृदयको आकुल कर दिया? †

---

* "Without question, the mode of origin, and the early stages of the development of man, are indentical with those of the animals immediately below him in the scale; without a doubt in these respects he is far nearer to apes than the apes are to the dogs"—

Huxley's Man's Place in Nature.

The reader, I presume, is already acquainted with Darwin.

† "কাণের ভিতর দিয়া, মরমে পশিল গো,
আকুল করিল মোর প্রাণ।"

कोयलका रव सुनते ही हृदयके भीतर भी मानो कोयल कूकने लगती है। किन्तु एक बार—केवल एकबार बोलकर चुप हो जाती है। इधर बाहरवाली कोयल वृक्षकी डालपर बैठकर तीव्र पञ्चम स्वर * से गगनमार्गको प्रतिध्वनित करती हुई चिल्लाती है—कु-हू, कु-हू! बाल्यस्मृतिकी भांति, विरहीके हृदयकी भांति, कालिदासके प्रकृति-वर्णनकी भांति, मृदु समीरणकी ही भांति—यह मृदुमन्द वायु उस कुहूरव को लाकर कानोंमें ढाल देता है। हृदयमें वैसी ही प्रतिध्वनि होती है—उहु:। सुनते नहीं हो, प्रतिध्वनि होती है—फिर बहुत दूरपर उस प्रतिध्वनिकी प्रतिध्वनि होती है। हृदयमें प्रतिध्वनि होती है—उहु:—फिर दूरपर—बहुत दूरपर—हृदयके भीतरमें हृदय है, उसके भीतर जो हृदय है, वहां उस प्रतिध्वनिकी प्रतिध्वनि पुकारती है—उ:—उ:—उ:। यह मृदु पवन ही तो चला है। न जाने कैसे स्वप्नकी लहर आकर देहसे टकरा जाती है, स्मृतिके अंधकारमें कितने दीपक जगमगा उठते हैं—बहुत दिन पहलेके सब सुख-स्वप्न याद पड़जाते हैं। मनके भीतर एक अपूर्व कलनिनादिनी स्रोतस्वती मृदु कलकलस्वर करती हुई प्रवाहित होने लगती

---

* लोग पञ्चम स्वरको ही मधुर कहते हैं, किन्तु मैं इस बातका अनुमोदन नहीं करता। पञ्चम बड़ा तीव्र होता है—मिठास है, किन्तु मधुर मिठासकी तरह, बड़ाही उग्र होता है। मुझको तो गान्धार ही सबकीपेक्षा मीठा सुन पड़ता है; "भिन्नरुचिर्हि लोकः।"

है। उसमें वह अतुल सुख, वह "सर्व्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन" निर्म्मित सुख, चकितकी तरह बहता हुआ, देखते न देखते झट डूब जाता है। केवल दो चार छोटी बड़ी लहरें देख पाता हूं।

यह जो वसन्तका चांद है—अहा! बलिहारी है! उसका लुढ़कता हुआ मतवाला भाव बड़ा प्यारा लगता है। लोग शरद्के चन्द्रमाको सुन्दर कहा करते हैं, किन्तु,—उसकी हंसी बड़ी प्रखर, व्यङ्गसूचक और बड़ीही मर्म्मभेदी होती है। इतनी हंसी सबको नहीं सुहाती। जिसका भाग्य मेरी तरह है, उसको ऐसी हंसी बड़ी कठोरलगती है। उस हँसीके सामने ईषदन्धकारयुक्त, निद्रित स्वप्नमयी ज्योत्स्ना तुच्छ है। इस ज्योत्स्ना-स्रोतके देह पर पड़नेसे मेरा वह प्राणसे भी प्यारा धन, स्मृतिके द्वारपर मुंहमांगे खड़ा हो जाता है। वह मधुर हंसी—जिस हंसीसे मनका अन्धकार दूर होता है, संसारका मुख सुन्दर दीख पड़ता है, स्त्री जातिके प्रति भक्ति होती है, मनुष्य जातिके प्रति अनुराग होता है—जिस हंसीको ओर निहारने से सहृदयता उत्पन्न होती है, अपवित्रता दूर होती है, असत् प्रवृत्ति संकुचित होती है, मनका मालिन्य दूर हो जाता है, —उस मधुर हंसीको नहीं देख पाता, किन्तु उसको तो एकबार देखता हूं और उसको देखना ही सुख है! जो जिसको प्यार करता है, वह उसकी छाया देखकर भी

सुखी होता है। उस मुखचन्द्रको ठीक ठीक नहीं यादकर सकता, मानसपटपर अविकल अङ्कित नहीं कर सकता, किन्तु यह तो दिया—केवल उसकी छाया ही का स्मरण करनेसे जो भाव-हिल्लोल बहने लगता है, उसीमें मस्त हो जाता हूं। यहां विश्वरचनाकी एक कारीगरी दीख पड़ती है।—जो जिसको प्यार करता है, वह उसका मुखावयव ध्यानमें नहीं ला सकता। एक तो योंही आंसुओंके मारे रास्ता नहीं सूझता, तिसपरभी यदि वह इन्द्रजाल फैलाने वाला मुख निरन्तर आंखोंके सामने नाचता रहता तो जीनाही दुष्कर हो जाता। यह तो वही जानता है, कि इसमें उसकी कारीगरी कितनी है, परन्तु इसका कारण दुष्प्राप्य नहीं है। बात यह है कि सब अंग एक साथ नहीं दीख पड़ते! दो से अधिक चक्षु नहीं हैं; जब जिस अङ्गकी ओर निहारते थे, तब उसीमें रम जाते थे—उसी अङ्गके अनिर्व्वचनीय लावण्य तरङ्गमें डूब जाते थे। दो अङ्ग एक साथ कभी नहीं देखे जा सकते। इसीसे ऐसा होता है;—उन दोनों अधरपल्लवोंको यादकर सकता हूं, उन दोनों नयनोंको यादकर सकता हूं, उस अतुल ललाटको याद कर सकता हूं, उस अपूर्व्व नासिकाको याद कर सकता हूं, उन अधरोंकी उस हंसीको याद कर सकता हूं, उन आंखोंकी उस दृष्टिको याद कर सकता हूं, उस ललाटकी उस अपूर्व्व गरिमाको याद कर सकता हूं—किन्तु उस मुखको याद

नहीं कर सकता। एक एक कर सब अंग याद पड़ जाते हैं, किन्तु सब अंग एक साथ याद नहीं पड़ते—एक एक अंगको दिनभरमें सहस्र सहस्र बार देखा है; परन्तु सब अङ्गोंको एक साथ कभी भी नहीं देखा। एक बात और है, उस मुखका कैसा अपूर्व भावविकाश था—आकृतिमें गठन हुई रहती थी।

भाग्यमें यह सुखभी नहीं बदा है, कि कभी उसे स्वप्नमें भी देखूं। प्रायः नित्यही सोचता हूं कि जागते सोते, एकबार किसी तरह देख पाऊं, किन्तु इस जगतके कैसे निठुर नियम हैं, उसे इस जन्ममें फिर एकबार भी नहीं देख पाया। क्यों नहीं देख पाता? जिसको सदा मनमें रखता हूं और मनमें रख कर प्यार करता हूं, जिसको देखनेके लिये लालायित रहता हूं, उसको क्यों नहीं देख सकता? लोग कहा करते हैं कि जिस बातको सदा चिन्ता

---

* Sir William Hamilton, in his "Lectures on Metaphysics" mentions the facts but I do not remember to have attempted an explanation anywhere. The explanation, however, is not far to seek. Dreams are effects and as effects, they must have some antecedent cause. This cause we find in perception, because perception is never wholly suspended. Leibnitz tells us that, even, when we sleep without dreaming there is always some

की जाती है, वह स्वप्नमें दीख पड़ती है। यह झूठी बात है *। स्वप्न हो वा और कुछ, सब नियमाधीन हैं। स्वप्नमें हो अथवा जाग्रदवस्थामें, भाव साहचर्य्यके नियमानुसार भावानुस्मृति हुआ ही करती है। जो दो भाव परस्परमें सम्बन्धयुक्त हैं, उनमेंसे एकके आनेपर दूसरा अवश्य आयेगा। जिस वृक्षकी छायामें बाल्यावस्थामें खेला करता था, उस वृक्षको देखने पर अथवा उसकी याद पड़नेपर, वे सब

---

feeble perception. The act of awakening indeed, shows this." Now, if the reader will admit our perceptions to be the ground-work of our dreams, the whole thing becomes as plain as c, a, t, cat. There is law everywhere and in everything. Even in sleep, ideas cannot follow one another except in obedience to the laws of association, or the one grand law, hinted at by Aristotle and clearly laid down by Augustin. Now, our ideas of those whom we love most are associated, for the most part, with our feelings of a particular class only, and as past feelings can never be the subject of perception, those whom we love find no place in our dreams. This explanation, however, needs further comment, but now I can devote no more space to such discussions. I have a mind to take up, and attempt an elaborate exposition of this subject some other time.

बातें ध्यानमें आजाती हैं। वह बाल्यकाल, वह उपस्थितोन्माद, वह शून्यचित्त, वह साथ खेलनेवाले साथी, वह निरर्थक कलह, वह निरर्थक आत्मीयता, वह अभिनव संसार, वह सुन्दर हृदय, वह अकारण रोदन, वह अकारण हास्य, —वह सब बातें फिर जाग्रत हो जाती हैं; क्योंकि ये सभी परस्पर सम्बन्धबद्ध हैं। बच और शैशव सुख दुःख, इनमेंसे जब एकको सोचा तो दूसरे को भी सोचा; सुतरां एकके साथ साथ दूसरा भी आ पड़ता है। किन्तु उसको तो कभी भी किसीके साथ नहीं सोचा। जब उसको सोचा, तब केवल उसीको सोचा। उस एक भावसे हो हृदय पूर्ण हो गया। किन्तु क्या कहते कहते क्या कह रहा हूं—

देख लिया, संसारमें सुख नहीं है। ऐसा नहीं है, कि यह दारुण दुःख पहले पहल मु[illegible] [illegible] सहना पड़ा है; किन्तु बीती बातको सोचना ही [illegible] काल हो गया है। दुःख सब भोगते हैं—दुःख भोग[illegible] [illegible] ही पृथिवीपर आये हैं—दुःख सभीको भोगना पड़ता है; किन्तु "क्या था, और क्या हो गया" इनकी तुलना कर[illegible] [illegible] फट जाता है *।

---

* "Could I forget,
What I have been; I might the better bear
What I am destined to. I am not the first
That [illegible] wretched: but to think how much
I may [illegible]."
Southern, "*Innocent Adultery.*"

की जाती है, वह स्वप्नमें दीख पड़ती है। यह झूठी बात है*। स्वप्न हो वा और कुछ, सब नियमाधीन हैं। स्वप्नमें हो अथवा जाग्रदवस्थामें, भाव साहचर्य्यके नियमानुसार भावानुस्मृति हुआ ही करती है। जो दो भाव परस्परमें सम्बन्धयुक्त हैं, उनमेंसे एकके आनेपर दूसरा अवश्य आवेगा। जिस वृक्षकी छायामें बाल्यावस्थामें खेला करता था, उस वृक्षको देखने पर अथवा उसके याद पड़नेपर, वे सब

---

feeble perception. The act of awakening indeed, shows this." Now, if the reader will admit our perceptions to be the ground-work of our dreams, the whole thing becomes as plain as e, a, t, eat. There is law everywhere and in everything. Even in sleep, ideas cannot follow one another except in obedience to the laws of association, or the one grand law, hinted at by Aristotle and clearly laid down by Augustin. Now, our ideas of those whom we love most are associated, for the most part, with our feelings of a particular class only, and as past feelings can never be the subject of perception, those whom we love find no place in our dreams. This explanation, however, needs further comment, but now I can devote no more space to such discussions. I have a mind to take up, and attempt an elaborate exposition of this subject some other time.

बातें ध्यानमें आजाती हैं। वह बाल्यकाल, वह उपस्थितोन्माद, वह शून्यचित्त, वह साथ खेलनेवाले साथी, वह निरर्थक कलह, वह निरर्थक आत्मीयता, वह अभिनव संसार, वह सुन्दर हृदय, वह अकारण रोदन, वह अकारण हास्य, —वह सब बातें फिर जाग्रत हो जाती हैं; क्योंकि ये सभी परस्पर सम्बन्धबद्ध हैं। वृद्ध और शैशव सुख दुःख, इनमेंसे जब एकको सोचा तो दूसरे को भी सोचा; सुतरां एकके साथ साथ दूसरा भी आ पड़ता है। किन्तु उसको तो कभी भी किसीके साथ नहीं सोचा। जब उसको सोचा, तब केवल उसीको सोचा। उस एक भावसे ही हृदय पूर्ण हो गया। किन्तु क्या कहते कहते क्या कह रहा हूं—

देख लिया, संसारमें सुख नहीं है। ऐसा नहीं है, कि यह दारुण दुःख पहले पहल मु[illegible] सहना पड़ा है; किन्तु बीती बातको सोचना ही [illegible] काल हो गया है। दुःख सब भोगते हैं—दुःख भोगने[illegible] ही पृथिवीपर आये हैं—दुःख सभीको भोगना पड़ता है; किन्तु "क्या था, और क्या हो गया" इनकी तुलना करनेपर कलेजा फट जाता है *।

---

* "Could I forget,
What I have been ; I might the better bear
What I am destined to. I am not the first
That have been wretched : but to think how much
I have been happier."

Southern, "*Innocent Adultery.*"

मरनेकी इच्छा करता हूं, परन्तु मर नहीं सकता। दुःखकी बात क्या सुनाऊं, एक दिन नावपर चढ़कर कहींसे घरकी ओर आ रहा था। भागीरथीकी धारामें, मृदुपवन हिल्लोलमें, अंधकार संश्लिष्ट ज्योत्स्नामें, नक्षत्र-खचित नीलचन्द्रातपके नीचे बैठा कितनीही इधर उधरकी बातें सोच रहा था— सुखकी अस्थिरता, दुःखका परिणाम, नैराश्यकी कातरता, स्नेहकी व्याकुलता, संसारकी गति, मनुष्यके दुःख, हृदयकी दशा, शैशवकी शून्यचित्तता, नव-यौवनकी चंचलता, आशाकी छलना, भाग्यकी निष्ठुरता, न जाने क्या अनाप शनाप सोच रहा था। उस दिन न जाने कौनसी तिथि थी, किन्तु चन्द्रमा निकला हुआ था। अंधकारको हटाकर चन्द्ररश्मि गंगाके जलमें पड़ रही थीं। भागीरथी, मानो एक-बार भ्रूभङ्गसे देखकर, फिर अपने मनके अनुसार बह रही थी। ऐसे समयमें, दूरपर—बहुत दूरपर, मधुर कण्ठसे, किसीने टौड़ि रागिनीसे गाया ;—

"शेल ना कैन प्राण, सईरे, ताहार विच्छेदे।" *

मृदु समीरणने उस सुधाको कानमें भर दिया। हृदयमें धक् धक् शब्द होने लगा। न जाने छातीपर से कौन हट गया। प्राणके भीतरसे प्राणके कानोंमें न जाने किसने कहा

---

* यह निधुका टप्पा है। निधु बाबू बंगालके एक प्रसिद्ध और हाजिर-जवाब कवि होगये हैं। ये प्रेम विषयक पद ही लिखा करते थे। उक्त पंक्ति ऐसे ही एक पदकी है।

—जान्हवीका गर्भ बड़ा ही शान्तिपूर्ण है। सोचा, क्यों नहीं मर जाता? इस संगीतको सुनते सुनते, जान्हवीके जलमें डुबकी मार कर, एक बार उसे ढूंढ़ता क्यों नहीं? जब आशा ही नहीं, तो इस व्यर्थ जीवन-भारको ढोनेसे क्या फायदा? ठीक है, परन्तु तो भी मर न सका। उसके बाद भी कई दिन तक इच्छा की पर मर न सका। जब यह कल्पना करता हूं, तभी स्नेहमयी जननी याद पड़ती है। एक तो योंही निरन्तर अपनी चिन्तामें पड़ा पड़ा पापका बोझ लाद रहा हूं, तिसपर यदि जननी की आंखोंसे आंसू गिरेगा तो नर्कमें भी स्थान न मिलेगा। केवल क्या इसी लिये? क्या नरकके भयसे नहीं मर सकता? नहीं नहीं। जिसके मनके भीतर रातदिन नरकाग्नि जलती है, उसको नरकका भय कैसा? यह बात नहीं है। आज भी संसारमें एक सुख है—घर जाकर 'मा' कह कर पुकार सकता हूं। सब बन्धन टूट गये—इस जन्मके सब बन्धन टूट गये, केवल यही एक बन्धन रहा है। एक बार 'मा' कह कर पुकार लेता हूं, उसी सुखके सहारे इस रावणी चिताको हृदयमें रखकर भी जीवित हूं। रोगमें, शोकमें, दुःखमें, विपद्में जब 'मा' 'मा' पुकारता हूं तब मानो सब सन्ताप मिट जाते हैं। मानो बाल्यकाल लौट आता है। मानो फिर वही चिन्ताशून्य, सदानन्दचित्त, अबोध बालक ही कर खड़ा हो जाता हूं। फिर मानो उसे सौहागके

आंचलको धरकर, स्नेहपूर्ण मुखकी ओर देखकर नाच नाच कर मिठाई मांगता हूं—"दे मा, दे मा—क्यों न देगी ?" कह कर मानो फिर आंचल खींचता हूं, आंचल पकड़कर लोटता हूं। फिर मानो संसार सुन्दर हो उठता है, प्रकृतिके मुखमें आह्लाद देख पाता हूं, आशा लौट आती है। जिसने कभी मा-मयी मातृभाषामें 'मा' कह कर नहीं पुकारा, उसका मनुष्य-जन्म वृथा है। वह, स्नेहकी गभीरता, मनुष्य हृदय की मधुरता, स्त्री जातिकी पवित्रता, कुछ भी नहीं जानता। बन्धु-बान्धव स्नेह करते हैं, पुत्रकन्या स्नेह करती है, जीवन-सहचरी स्त्री स्नेह करती है, किन्तु माताके ऐसा पवित्र स्नेह और किसका है ? इतना स्नेह किसका है ? किन्तु कैसा भोला मन है, एक बात कहते कहते दूसरी बात आ पड़ती है।

सदासे यही इच्छा बनी आती है, कि तुम सुखसे रहो, तुम अच्छी तरह रहो, और मैं तुम्हारे पास रहूं। तुम सुखी रहो, तुम अच्छी तरह रहो और मैं यह बातें देखनेके लिये तुम्हारे पास रहूं। बार बार तुम्हारे कानोंमें यह बात डालनेके लिये कि "तुम्हारे सुखसे मैं सुखी हूं" तुम्हारे पास रहूं। तुम अवश्य सुखी हो, तुम अवश्य अच्छी हो, क्योंकि जहां तुम गयी हो वहां किसीने किसी भी कालमें दुःखकी बात नहीं सुनी। अथवा सुनी कि न सुनी, यह मैं नहीं जानता—क्योंकि, जो उस अपरिज्ञात, अनाविष्कृत देशमें

जाता है वह लौट कर नहीं आता *। किन्तु दुःख इसी बातका है, कि मैं तुम्हारे पास न रह सका। और भी दुःखकी बात यह है, कि तुमसे विच्छिन्न होनेपर भी जीवित रहना पड़ता है।

हाय! मैं मनुष्य क्यों हुआ? वह मानवी क्यों हुई थी? दोनों इस सरोवरके तटपर वृक्ष क्यों न हुए? यदि होते तो परस्परके भावसे मस्त होकर, पत्तेसे पत्ता मिला, शाखासे शाखा लिपटा, एक दूसरेके कन्धेपर मस्तक रख कर, निर्ज्जनमें झूमते रहते। परस्पर गलेमें हाथ डाले, हिलते डोलते, सरोवरके स्वच्छ जलमें बार बार एक दूसरेका मुंह देखते! मेरा मुखप्रतिविम्ब तुम देखती और तुम्हारा मुखप्रतिविम्ब मैं देखता और झूमता। अपने नव-विकशित प्रसून-समूहसे दिनमें सूर्य्यरश्मिरूपी सुवर्णसूत्रमें और रातमें शशाङ्कके रजत-तारमें, मालायें गूंथकर तुम्हारे गलेमें पहिनाता और फिर अपना मस्तक आगे बढ़ा कर, तुम्हारा कुसुमहार अपने गलेमें पहिनता! तुम्हारे सौन्दर्य्यसे स्वयं सजकर, और अपने साजसे तुम्हें सज्जित कर, दोनों एक दूसरेके गले मिलकर प्रेम-वर्षण करते! पूर्णिमा की रातको, ज्योत्स्नाको पकड़, दोनों ही ज्योत्स्ना-क्रीड़ा करते

* "The undiscovered country, from whose bourn
No traveller returns."
—Shakespeare, *Hamlet's Soliloquy*.

—मैं हंसता हंसता तुम्हारी ओर ज्योत्स्नाकी मुट्ठियां भर भर फेंकता और तुम हंसती हंसती लोक लेती ; और उससे भी अधिक हंस हंस कर तुम फेंकती और मैं लोक लेता। शशिहीना निशामें, क्षीण नक्षत्रालोकमें, हीरक-खचित नील-चन्द्रातपके नीचे, मनुष्यकी सुख-स्मृतिकी नाईं, स्मृतिमें सुख-स्वप्नकी नाईं, सुखस्वप्नमें तुम्हारे मुखचन्द्रकी नाईं, आलोकमें आवरणसे मुंह ढंक कर, भावके आवेगसे, सुखके आतिशय्यसे, आंखें मूंदकर तथा निस्पन्द होकर दोनों बैठे रहते। ऐसे उल्लासमें, ऐसे आनन्दमें, ऐसे सुखमें, यदि पापी समीरण कानोंके पास हाय हाय करने आता,—यह बात इस लिये कहता हूं, कि संसारमें कोई किसीकी भलाई नहीं देख सकता। यह जगत्-पद्धति ही, जिस नियमसे विश्व-ब्रह्माण्ड चलता है—इसे नहीं देख सकती, और कौन देख सकता है? यदि यह दुरन्त नियम किसी चेतन सत्ता द्वारा प्रवर्त्तित है, (बिलकुल हंसने योग्य बात नहीं है, जगत्में चैतन्य तो प्रत्यक्ष देखता हूं। यदि सन्देह करते हो, तो यह सन्देह ही इस बातका प्रमाण है)—तो उस चैतन्यके भौतिक संयोगसे उत्पन्न होनेका और आणविक शक्तिके एकत्वका जब तक अकाट्य वैज्ञानिक प्रमाण नहीं दिया जा सकेगा, तब तक प्रकृति निरपेक्ष पुरुषका अस्तित्व स्वीकार करना ही विज्ञानानुमोदित है। पर हां, उस चैतन्यके सृष्टि-कर्त्तृत्वमें अवश्य सन्देह हो सकता है। परन्तु चैतन्यके

हानिके विषयमें और किसीसे पूछना नहीं पड़ेगा, इसमें और सन्देह हो ही नहीं सकता; सुतरां "चैतन्य है" यह माननेमें कोई दोष नहीं। अब, यदि यह नियम किसी सचेतन सत्ता द्वारा प्रवर्त्तित हो, तो वही नहीं देख सकता तो और कौन देखेगा? इसीसे दुखी मनसे कहता हूं, इतने सुखके समय, ऐसे अमृत ह्रदमें अवगाहनके समय, यदि पवन आकर "हाय, हाय!" गाता, तो दोनों शिर हिलाकर, एक तालसे, एक स्वरसे, एक रागिनीसे, सधे गलेसे, गलेसे गला मिलाकर, दोनों गलोंको एक कर, सभ्रूभंग द्वारा कहते—हट, हट!—ऐसे सुखमें, ऐसे उत्सवमें, ऐसे आनन्दमें, मुए मुंहमें हाय हाय के सिवा कोई शब्दही नहीं है—दूर हो, दूर हो। किन्तु ऐसा कौनसा पुण्य किया है कि इस फूटे नसीबमें इतना सुख बदा हो।

समझ नहीं पड़ता, कि इस संसारमें कौन कैसा भाग्य लेकर आता है। सुखके सभी इच्छुक हैं; परन्तु जैसे नन्द-कुमारके महोत्सवमें होता है, ऐसेही संसारमें कोई "दिल्लीका लड्डू" पाता है, कोई बन्दूककी गोली खाता है। सुखी कोई भी नहीं है—यह प्रहार-वेदनासे कातर हैं, तो वह परित्यक्त-वृश्चिक दंशनसे कातर हैं। माना, कि सबके लिये भिन्न भिन्न पथ हैं, किन्तु जहां सब पथ मिलकर एक हो गये हैं, वहां केवल हाहाकार है, आंसू है और हृदयका लोहू है! जो जिस पथसे जाय, एक न एक दिन सभीको वहां जाना

पड़ेगा। सब अभिलाषाओंका, सब आकांक्षाओंका सब साधनाओंका परिणाम होता है—केवल हाहाकार। भाइयों! देखो, इस खाककी दुनियामें खाकके सिवा कुछ नहीं है। धन, जन, सहाय्य, सम्पत्ति, पद, मर्य्यादा, विद्या, ख्याति सब मिथ्या हैं—मनकी आग किसीसे नहीं बुझती। सुख-तृष्णाके मारे, दूरसे जो स्वच्छ सरोवर प्रतीत होता है, अग्रसर होकर देखता हूं तो वह सरोवर नहीं है;—संसार मरुभूमिमें कल्पनारश्मि-सम्भूत मरीचिका मात्र है। इसी दुःखसे तो—

"दिल तरसता है कहीं औ चश्म हैं पुरनम कहीं।"

शयन मन्दिर ।

न तो वह राम ही हैं और न वह अयोध्या ही । यही महा श्मशान एक दिन प्रमोदोद्यान था । नीलाकाशमें जैसे शरदका चन्द्रमा शोभा पाता है, जाह्नवीके जलमें जैसे वसन्तकी वन-शोभा खिलती है, रमणीके अधरोंपर जैसे मधुर हंसी रुचती है, रमणीके कण्ठसे जैसे प्रणयकी बात मीठी लगती है, इस संसारमें यह मन्दिरभी एक दिन वैसा ही था। यहां एक दिन कितनी सुखकी तरंगें, आनन्दकी लहरें उठती थीं, यह बतानेसे अब क्या लाभ होगा? जिस समयकी बात कहता हूं, उस समय यह संसार अमरावती सा मालूम होता था और उस अमरावतीमें यह गृह मानो नन्दनकानन तुल्य था। उस नन्दनकाननमें, खिले हुए पारिजातसे लदा हुआ, एक कल्पद्रुम, भीतर बाहर आलोकित करता हुआ विराजमान था। और मैं, अधमाधम, उस पारिजात-सौरभसे मस्त होगया था। वह नन्दनकानन—वह सुखकुञ्ज अब मेरे लिये अरण्य सदृश हो गया है। जिसके रहनेसे गृह था, वह नहीं है—घर मेरे लिये वन हो गया है। इस वनमें मैं वनवासी हूं—यह बताकर क्या करूं कि किसकी तपस्या करता हूं और क्या जपता हूं? मेरा हृदय, कुसुम कुसुममें, नक्षत्र

नक्षत्रसे, गगन गगनमें, श्मशान श्मशानमें भिक्षा मांगता फिरता है। क्या मांगता है? यह बतानेसे क्या लाभ होगा? मैं जानता हूं, मेरा मन जानता है और जो अन्तर्यामी हैं वह जानते हैं—कह कर क्या करूंगा? मेरे मन पर्य्यन्तने सन्यास ग्रहण कर लिया है। और किसी चीजमें मन नहीं लगता। सब विषयोंमें लगता था, परन्तु अब किसीमें नहीं। मनमें जितने उच्चाभिलाष थे, सब मनहीमें विलीन होगये। हृदयमें जो वासनाएं थीं, वे हृदयके तापसे गल गईं। यह नहीं, कि आशा नहीं कर सकता। स्वीकार करता हूं कि मैं मूर्ख हूं; किन्तु संसारमें देखता हूं कि मेरी अपेक्षा अनेक महामूर्ख सम्मानित होते हैं। ऐसी बात नहीं, कि आशा नहीं कर सकता; अब आशा करनेकी इच्छा नह होती, अब आशा करना अच्छा नहीं लगता। सम्मानित होनेसे क्या होगा? प्रतिपत्ति लेकर क्या करूंगा? कौन देखेगा? किसको दिखाऊंगा? जिसका हिस्सा बंटानेके लिये कोई नहीं है, उससे प्रयोजन ही क्या? धनोपार्जन किसके लिये करूंगा? ज्ञानवृद्धि किसके लिये करूंगा? यशोलाभ किसके लिये करूंगा? संसार-धर्म्म किसके लिये करूंगा? मेरा कौन है? इस संसारमें मेरा और कौन है? मैं अकेला हूं। इस विपुल संसारमें, इस असीम जीवसमाकीर्ण अनन्त जगतमें अपना कहने योग्य मेरा कोई भी नहीं। इसलिये अब किसी वस्तुमें मन नहीं है। अब मन केवल

मृत्युमें है। किन्तु मृत्युसे जिसका मंगल हो सकता है, उसकी मृत्यु भी नहीं होती। जो अच्छा है वह चला जाता है, जो बुरा है वह रह जाता है। जिसके मरनेसे दश आदमी रोते हैं, वही जाता है; जिसके मरनेपर कोई रोनेवाला नहीं वह नहीं मरता। किन्तु, क्या कहता था, भूल गया—

मेरे घर नहीं है। संसार ढूंढ़ डाला, परन्तु लोग जिसे घर कहते हैं वह कहीं नहीं मिला। जहां इधर उधर पड़े रहनेपर भी मन लग जाता है, अन्यत्र स्वर्गीय सुख मिलने परभी जहां जानेके लिये मन छटपटाता है, इस संसारमें जो स्थान स्वर्गकी अपेक्षा भी बड़ा है,—मुझे तो ऐसा स्थान कहीं दिखाई नहीं देता। जहां जानेसे शोकताप दूर होता है, ज्वालायन्त्रणा समाप्त होती हैं, सब दुःखोंका अन्त होता है, सब बिपत्तियोंकी शान्ति होती है, सब रोग उपशमित होते हैं, सब अन्धकार अन्तर्हित होता है, सब अग्नि निर्व्वापित होती है, जहां चिर-बसन्त विराजित है, चिर-प्रेम-प्रवाहिनी प्रवाहित है—मुझे तो ऐसा स्थान कहीं दिखाई नहीं पड़ता। हाय! क्या था और क्या होगया? ऐसा कौन कहता है कि पहले कोई दुःख नहीं था? दुःख क्यों नहीं रहेगा?—यह मनुष्य जन्म ही दुःखभोगके लिये है। दुःख तो था ही। दुःख चिरकालहीसे है। शैशवावस्थामें भी था। कितने ही दिनों तक, माताकी गोदसे छोटी छोटी अंगुलियां हिला हिलाकर, आकाशके चांद-

को पुकारता था। मनुष्यहृदय सदासे ही सौन्दर्य्यका भिखारी होता आया है; अवस्थानुसार रुचि-परिवर्त्तन होता है। उस समय चन्द्रमाहीको सबसे अधिक सुन्दर समझता था। यह पीछे जाना कि उसकी अपेक्षा सुन्दर पदार्थ भी संसारमें है। हाथ हिलाता हुआ, "आ, आ!" पुकारता हुआ आकाशके चांदको बुलाता था। यह तो कभी जानता नहीं था, कि इस संसारमें सब पुकारें नहीं सुनी जातीं—पुकारकर सोचता था कि आता है। आनन्दसे माताकी गोदमें बैठा बैठा ही नाचने लगता था—महा आनन्दसे दोनों हाथोंसे अपना पेट पीटता था, माका मुंह पीटने लगता था, केश धरकर खींचता था और मुंहको दबाकर धर लेता था। पुनः फिरकर देखता था, कि चन्द्रमा न तो आया और न आही रहा है। तब फिर दोनों नन्हे नन्हे हाथोंसे जननीके हाथोंको पकड़कर हिलाता हुआ पुकारता, तब भी नहीं आता था। मा भी पुकारती थीं, तब भी नहीं आता था। तब रोता रोता सो जाता था। कौन कहता है, कि दुःख नहीं था? कितनी ही बार पाली हुई बिल्लीके साथ खेलने जाता था; वह खेलती नहीं थी। बैठनेके लिये कितना अनुरोध करता था, नहीं सुनती थी। पूंछ पकड़कर खींचता और बैठाने की चेष्टा करता था, तब भी 'म्याऊं' म्याऊं' कर चली जाती थी। कौन कहता है कि दुःख नहीं था? चावल चुगनेके लिये प्रायः कितने ही सुन्दर पक्षी आते थे; उनके साथ खेलनेको

आशासे निकट जाता था, पर वे उड़कर भाग जाते थे। कितनी ही बार मन ही मन खेलने लगता था,—मा आकर गोदमें उठा लेती थीं—खेल भङ्ग करदेती थीं ;—कौन कहता है, दुःख नहीं था? दुःख था लम्बी सांसे लेनी पड़ती थीं। किन्तु उस समयके निश्वासमें और इस समयके निश्वासमें बहुत प्रभेद है। उस समयके निश्वाससे हृदय हलका हो जाता था और अब जब निश्वास लेता हूं तब एकाएक हृदयका रक्त सूख जाता है, हृदययन्त्रका एक एक तार टूट जाता है, संसारबन्धनकी एक गांठ खुल जाती है। उस समयका दीर्घ-निश्वास इस तरह खून नहीं चूसता था *। कौन कहता है, दुःख नहीं था? दुःख था; किन्तु यह कहकर कभी दुःख प्रकाश नहीं करना पड़ता था कि "मृत्यु क्यों नहीं होती।"

---

* "All fancy-sick she is, and pale of cheer,
With sighs of love that cost the fresh blood dear."
Midsummer Night's Dream.

Again :

"Might liquid tears, or heart-offending groans,
Or blood-consuming sighs, recall his life,
I would be blind with weeping, sick with groans,
Look pale as primrose with blood-drinking sighs."
—*Henry VI.*

वह दुःख गया—अब ज्ञात होता है, वह सुख गया—वह दुःख गया ; फिर नये दुःखकी सृष्टि हुई है। "इस नये दुःखको कौन लाया ?" इस दारुण विषयको छेड़नेकी जरूरत नहीं। चाहे जो लाया हो, दुःख उस समय भी था। देखनेके समय आंखोंकी पलक क्यों गिर पड़ती है ? यह भी एक दुःख था। विदेश क्यों जाना पड़ता है ? यह भी एक दुःख है। जब विदेशसे घर लौट आते हैं, तब तृष्णाएं क्यों रह जाती हैं ? यह भी एक दुःख है। और भी कितने ही दुःख थे। मनुष्यके पर क्यों नहीं हैं—स्पर्श चमड़े पर न होकर हृदयके भीतर क्यों नहीं होता—जो जिसे प्यार करता है, वह उसमें मिलकर एक क्यों नहीं हो जाता —और भी कितने ही दुःख थे। वे दुःख भी गये—सदाके लिये कुछ भी नहीं ठहरता। सब चले जाते हैं ; अन्तर इतना ही है, कि जिसका भाग्य अच्छा है, उसके सुख एक एक करके जाते हैं ; और जिसका भाग्य मेरे जैसा है, उसका सब कुछ एक दिनमें, एक दण्डमें, एक मुहूर्त्तमें, एक पलकमें चला जाता है। देखते देखते आशाका घर, सुखका मन्दिर, प्रफुल्लताकी क्रीड़ाभूमि, जीवन-लताका संश्रय-तरु, प्रकृतिका रम्यतम चित्र, प्राणोंसे भी अधिक—तदपेक्षा अधिक धन, सब हवामें काफूर हो जाते हैं। वह सुखपूर्ण दुःख चला गया। हाय ! वह दुःख क्यों गया ? गया तो मैं क्यों बच रहा ? वह दुःख गया ; अब नये दुःखकी सृष्टि

हुई है। मेरा कलेजा फाड़कर देख लो यह दुःख कैसा है। कौन कहता है दुःख नहीं था? दुःख था; किन्तु इस प्रकार हृदयको अवसाद-ह्रदमें डुबो नहीं देता था—विषाद-सागरपर स्थिर रखकर, भीतर ही भीतर इस प्रकार तरङ्गे नहीं उठाता था।

मनुष्यका अभागा मन सब सहता है। शक्ति अवस्थागत है; अवस्था शक्तिगत नहीं। जिस मुखको मलिन देख किसी दिन दशों दिशाएं शून्य मालूम होती थीं; उस मुखको न देख कर भी आज जीवित हूं। जिसके दण्डभर आखोंकी ओट रहने पर शरीरमें प्राण नहीं रहते थे, वह अब सदाके लिये दृष्टिसे दूर हो गयी, यह भी सहना पड़ा। जब उस अमूल्य निधिसे वञ्चित हो गया तब यह प्राण किस लिये है? किस लिये यह संसार है? और किस लिये यह अभागा घर है? हिमालयकी किसी निभृत कन्दरामें बैठकर, उसी रूपका ध्यान करता हुआ, उसीके नामको जपता हुआ, इस जीवनको अतिवाहित क्यों नहीं करता? इस जगतमें मेरी बाट देखनेवाला कोई नहीं है—मेरी तरह दुखी कौन है? मुझे आता देख अब किसकी उज्ज्वल आंखें उज्ज्वलतर हो जायंगी? अब किसके मधुर अधरोंपर मधुर मुस्कुराहटकी क्रीड़ा देखकर हृदयमें चांदनी छा जायगी—हृदयमें बसन्तसमीरण बहेगा? अब किसका कण्ठस्वर सुननेसे भूत भविष्यतकी चिन्ता दूर होजायेगी? अब किसके

मुंहसे वह सड़ी, पुरानी, जर्जर ; जिसमें कुछभी सार नहीं,— किसके मुंहसे वह नयी, सदा नयी, जब सुनी जाय तभी नयी ; कितनी ही बार,—कई दिनोंतक—प्रायः नित्यही सुनता था, नित्यही नयी मालूम होती थी—वही नयी-पुरानी, वह "एक राजा था उसके दो रानियां थीं" वाली कहानी सुनकर अब इस मट्टीके संसारको सोने का संसार समझूंगा ? बलिहारी है ! कैसी वह भावभङ्गी थी, कैसी वह वक्ता थी, कैसा वह कण्ठ था, कैसे वह शब्दसागरके चुने चुने शब्द-रत्न थे, कैसा वह मधुर गाम्भीर्य्य था, कैसा वह 'न जाने क्या भाव था, कि उस मुखसे वह कहानी सुनकर, वक्तासे मिलकर एक ही जानेकी इच्छा होती थी। इसके पहिले कितनी ही बार उस कहानीको सुनता आता था, बाल्यावस्थासे सुनता आता था, किन्तु उसके मुंहसे सुननेसे प्रत्येक शब्दकी प्रत्येक मात्रा पर्य्यन्त मानो हृदयके द्वारको तोड़कर हृदयमें घुस जाती थी। उस कहानीमें कवित्वका कोई विशेष परिचय नहीं था ; किन्तु न जाने कौनसा एक गुण था जो न कवित्वमें ही दिखाई पड़ता और न किसी दूसरी ही वस्तुमें। उसमें कैसी एक माधुरी थी ; वह माधुरी चन्द्रकर लेखामें नहीं, वासन्ती पवनमें नहीं, नदीपार-समागत प्रेम-सङ्गीतमें नहीं, "कुमारसम्भव"के तृतीय सर्गमें नहीं, महाश्वेताके प्रणयमें नहीं—संसारमें कहीं भी वह माधुरी नहीं दीख पड़ती। उसको सुनकर कैसा आनन्द आता था ; वैसा

आनन्द "क्लिपट्रा" पढ़नेसे नहीं आता "आईवान्हो" पढ़नेसे नहीं आता, "कर्से यर" पढ़नेसे नहीं आता, "अबदामङ्गल" पढ़नेसे नहीं आता "सिड" पढ़नेसे नहीं आता, "रोमियो और जूलियट" पढ़नेसे नहीं आता, "रघुवंश" पढ़नेसे नहीं आता, रामायण पढ़नेसे नहीं आता, महाभारत पढ़नेसे नहीं आता। रमणी-हृदयकी तरह वह कहानी भी अपार, अपरिमेय, अतलस्पर्शिनी थी। इसमें सामान्य कीर्त्ति थी, राक्षस-वध ; सामान्य प्रणय था, प्राणपण ; सामान्य लाभ था, विपुल राज्य ; सामान्य दान था, आधा राज्य और राजकन्या। कह तो चुका हूं, कि उसमें कोई विशेष वैचित्र्य नहीं था— सभी भयानक और सभी आश्चर्यमय था। अच्छा, वह भाव! बार बार राजपुत्र और राजकन्याका ही जिक्र आता था। बात बातमें राजपुत्र और राजकन्याका प्रणय होता था ; बातबातमें प्रणयकी जय होती थी। सब नायिकाएं रूपवती थीं—कोई तो अपने सौन्दर्य्यसे घरको उजाला करती थीं, किसीके हंसनेसे माणिक झड़ते थे, किसीके रोनेसे मोती टपकते थे। वह विहङ्गम और विहङ्गमी, वह पक्षिराज घोड़ा, वह ताड़के पत्तेकी तलवार, वह राक्षस, वह मनुष्यके साथ परीका प्रणय, वह इन्द्रालयका नृत्य, वह वर-प्रार्थना, वह अभिशाप, वह स्वर्गके रथपर चढ़कर देवकन्याओंका स्नानके लिये आना, वह पातालमें निवास, वह विकटाकार दैत्य, वह मरनेकी लकड़ी, वह जीनेकी लकड़ी, वह विलासवती

मालिनी, वह असंख्य राजपुत्रोंका भेड़ बनजाना—वही सब । राजा मरता था तो, राजहस्ति पागल हो जाता था ; जहां दो रानियां होती थीं, वहीं छोटी बुरी और बड़ी भली होती थी । जहां राजा कुबुद्धिका कार्य्य करता था, वहीं हस्तिशालामें हाथी मर जाता था, घुड़शालमें घोड़ा मर जाता था । जहां स्त्रियोंका अपमान होता था, स्त्रियोंको मनःपीड़ा होती थी, वह राज्यही छिन्नभिन्न हो जाता था । कहतो दिया, उस एक ही कहानीके केवल नये नये संस्करण होते थे । ठीक उसी ढङ्गसे 'हां' भी करना पड़ता था । किन्तु उन्मुक्त वातायन-पथ-प्रविष्ट चन्द्रकरलेखामें सोकर उस सुखसे, उस कहानीको सुननेमें जो सुख है, वह सुख इस असार संसारमें कहां ? उस चन्द्रमुखसे यह कहानी सुनते सुनते सोचता था—शरीरका शरीरसे आलिङ्गन न होकर मनका मनसे क्यों नहीं होता ? मनके हाथोंसे उसके मनका आदर क्यों नहीं कर सकता ? जिस दिन वह कहानी-प्रस्रवण सूख गया, उसी दिनसे ऐसी दशा हो गयी है—न जाने पागलकी तरह क्या अण्डबण्ड बका करता हूं । उस दिन मनका प्रधान बन्धन टूट गया—मानो मन संसारसे विमुक्त हो शून्यमें भ्रमण कर रहा है । उस दिनसे न जाने कैसा हो गया हूं, कहीं एक मधुर शब्द सुनते ही, कहीं कोई सुन्दर वस्तु देखते ही चित्त उदास हो जाता है—शून्यमय, आकाशमय, पृथिवीमय, जगत्‌मय हो जाता है—किसके

लिये, यह कहकर क्या करूंगा ? जिसकी खोजमें ऐसा होता है, उसे कौन ढूंढ़ देगा ? किन्तु—

उस मुखको स्थिर दृष्टिसे देखनेमें, उसकी लावण्यलीलामें, उस मुंहसे कहानी सुननेमें जो सुख होता था, वैसा सुख स्वर्गमें भी नहीं। उसके प्रत्येक वाक्यके बदलेमें यदि एक एक सौर जगत् निवछावर कर दिया जाय तो भी उपयुक्त प्रतिदान न होगा—एक एक मानसिक वृत्तिको तोड़कर देनेपर भी उपयुक्त मूल्य नहीं होगा। किन्तु इस सुखमें भी दुःख आ पड़ता था। उस मुखको अच्छी तरह देखनेकी सुविधा नहीं होती थी। प्रदीप—सत्यानाश हो प्रदीपका!—प्रदीप मेरे पीछे होनेके कारण मेरे मुंहकी छाया उसके मुंहपर पड़ती थी ; और उसके पीछे रहता था तो भी उसके मुंहपर उजियाला नहीं पड़ता था। यह भी, जगत्पद्धतिकी एक असम्पूर्णता है। कौम्तने जगत्पद्धतिमें जो दोषारोपण किया है, उसे असम्पूर्ण कहा है, वह बिलकुल ठीक है—बिलकुल दुरुस्त है। हम लोग चाहे जैसे रहें, रोशनी सदा उसीके मुंह पर क्यों नहीं पड़ती ? कौन कह सकता है, कि, जगत्पद्धतिमें दोष नहीं हैं ? विश्वरचनामें और एक दोष यह है, कि सब विषयोंकी चरितार्थता और सब कामोंकी सार्थकता नहीं होती ; प्रेमके कारण रोते रोते आंखें नष्ट होगईं। केवल मेरी ही बात नहीं—प्रेमकर कितने लोग सुखी हुए ? कौन नहीं रोया ? अपने भाग्यको किसने मन्द

नहीं कहा? किसने अपने हृदयपर नरकका भार धारण नहीं किया? कबसे रो रहा हूं और कब तक रोऊंगा यह भी ठीक नहीं। इन अभागी आंखोंमें, भगवन्! न जाने, कितना पानी भरा हुआ है! किन्तु रोओ, सदा रोते रोते मर जाओ—रोनेका परिणाम रोनेके सिवा और कुछ भी नहीं है। इसी लिये कहता हूं—जगत्पद्धति असम्पूर्ण है। यह बात सत्य है, कि इस कारण ईश्वरपर भी दोष पड़ता है: किन्तु भाई! हम तुम कैसे जानें कि ईश्वर कौन है और कैसा है? * जो सबसे अधिक जानता था † वह कुछ नहीं जानता था। निउटन (Newton) समझता था कि, वह ज्ञानमहार्णवके किनारे केवल कंकड़ियां चुन रहा था। भाई! जगतकी उत्पत्तिके विषयमें तुम हम क्या जानते हैं? इस ज़रासे हृदयकी बातें ही साफ साफ नहीं समझ सकते —फिर जगत्-कारणकी प्रकृतिके सम्बन्धमें, हम तुम क्या जानते हैं, भाई? यदि कुछ जानते हैं तो यही जानते हैं कि वह अज्ञेय है। किन्तु क्या कहता हुआ क्या कह रहा हूं—

क्या था, और क्या हो गया? यह कौन जानता था, कि

---

* "जो सोचता है, मैं ईश्वरको पहचान गया हूं, वह कुछ भी नहीं जानता। जो उसको ज्ञानातीत समझता है, वही उसे जान गया है।"—तलवकारोपनिषत्।

† Socrates knew, that he knew nothing.

एकके न होनेसे सब खतम हो जाता है—आशा, भरोसा, सुख, सब नष्ट हो जाते हैं? यह जानता था, कि उसको खो दूंगा तो संसार अन्धकारमय हो जायगा; किन्तु कौन जानता था, कि एकदम ऐसा हो जायेगा? अब क्या कहूं वह रत्न कैसा था? मानो लज्जावती लता थी—आदर संस्पर्शसे भी संकुचित होती थी। नहीं कह सकता किसको कैसी रुचि होती है—परचित्त अन्धकारके सदृश होता है। किन्तु लज्जा ही तो स्त्री-चरित्र की माया है। जो लज्जाशीला है, उसे हृदय फाड़कर हृदयमें रख सकता हूं; और जिसमें लज्जा नहीं, वह—अभी मुंहसे छलकी बात निकल जाती! लज्जा ही तो प्रणयका इन्द्रजाल है;—प्रेम पुराना नहीं होता। लज्जा विनय देखते ही प्रेम नया हो जाता है। घूंघट निकालते देखकर ही बोध होता है मानो आज-कल में ही प्रीति आरम्भ हुई है। लज्जा नहीं रहनेसे प्रेमका नवीनत्व नहीं रहता—वह 'नित्य-नया' भाव नहीं रहता—वह 'जब देखा तब नया' भाव नहीं रहता। किसी अशुभ मुहूर्त्तमें देशमें बालिकाविद्यालय स्थापित हुआ था, इसी लिये स्त्रीचरित्रके इस इन्द्रजालके क्रमशः लोप होजानेके लक्षण देखता हूं*। मैं कहता हूं, कि स्त्रियोंको लिखना

* मुझे याद पड़ता है कि, श्रीमती भुवनमोहिनी देवी द्वारा सम्पादित 'विनोदिनी' पत्रिकाके किसी अङ्कमें लिखा था—"रसिक पवन, युवतीकी छातीके कपड़ेके भीतर घुस, आंख-मिचौनल खेलता है"। स्त्रियोंकी पत्रिकामें ऐसे अपूर्व भावका

पढ़ना सिखानेके बदले संगीत विद्या सिखाई जाय तो कैसा हो? इससे सुखकी वृद्धिको छोड़ ह्रासकी सम्भावना नहीं है। अंग्रेजी शिक्षाका एक कुफल यह हुआ है, कि देशीय क्षतविद्यसम्प्रदायमें सङ्गीतानुराग बहुतही कम देखा जाता है। जो सोचते हैं, कि सङ्गीतानुशीलनसे लोग विलासप्रिय, निरुत्साह, आग्रहशून्य और डरपोक हो जाते हैं, वे भ्रान्त हैं। प्राचीन हो वा आधुनिक, जिस जातिने संगीतका अनुशीलन किया, उसके वीर्य्यका ह्रास होना तो दूर रहा, उसने अपने विलक्षण वीर्य्य और साहसिकताका परिचय दिया है। संगीत उच्छृङ्खलताको दूर करता है, निष्ठुरताका ह्रास करता है, मनुष्यत्वकी वृद्धि करता है, *—परन्तु, फिर क्या कहने लगा—

सन्निवेश देखकर मैं दुखित होता हूं; सम्भित होता हूं—"अपरं वा किं भविष्यति" यह सोच डरता हूं।

* Polybins, the judicious Polybius, tells us that music was necessary to soften the manners of the Arcadians, who dwelt in a country where the atmosphere was bitter and cold; that the inhabitants of Cynothae, who neglected the study of music, surpassed all Greeks in cruelty, and that city was the scene of the most terrible crimes. Plato does not hesitate to say, that a change in music betokens a change in the constitution

क्या कहूं, वह कैसा रत्न था? मानो नवकुसुमित लता, अपने सौन्दर्य्यभारसे आपही विनत थी; मानो श्रावणकी नदी—अपने लावण्यमें आपही मग्न थी; मानो नवविकसित यूथिका—अपने सौकुमार्य्यसे आपही कातर थी, अपनी पवित्रतामें आपही लीन थी। परन्तु हाय री दशा! जबतक वह थी, तबतक उसका मर्म्म नहीं जान सका। इस समय, जब संसार शून्य हो गया है, दशों दिशाएं अन्धकारमय हो गयी हैं; गृह अरण्य हो गया है, मन छटपटाने लगा है; हृदय अवलम्बनशून्य हो गया है, तब उसका मर्म्म जान सका हूं। इतने दिनोंसे उसे पहचान सका हूं। मनुष्य जब तक जीवित रहता है, तबतक उसका मर्म्म कोई नहीं समझता। कविगुरु होमर (Homer) एक मुट्ठी भिक्षाके लिये द्वार द्वार पर भटकते थे,—आज सात स्थान उनकी जन्मभूमि होनेका दावा करते हैं। माइकेल मधुसूदन दत्त दातव्य चिकित्सालयमें मरे थे,—आज वङ्गभूमि उनके लिये रो रही है। लौर्ड बाइरन (Byron)ने अत्याचारसे पीड़ित

---

of the state, and Aristotle, although he seems to have written his work on Politics, with the express intention of opposing the opinion of Plato, agrees with him on this subject. [illegible], Plutarch, Strabo, and all the ancients, [illegible]

See *Montesquieu : Esprit des Lois: Book. IV, Ch. VIII.*

होकर, स्वदेशसे वहिष्कृत होकर, दूरदेश मिसलिंहिमें प्राण त्याग किया था—आज पार्लियामेण्टमें उनका स्मरण-स्तम्भ खड़ा करनेका प्रस्ताव हो रहा है। वस्तु जबतक रहती है, तब तक उसका आदर नहीं होता। तब जान पड़ता था कि सदा योंही काम चलेगा। सोचता था कि, इस प्रणयमें तो विच्छेद होगा ही नहीं। मनका स्वभाव ही ऐसा है कि, जिसका विश्वास करनेकी इच्छा होती है, जिसमें विश्वास करना अच्छा लगता है, जिसका विश्वास करनेसे सुख होता है, उसका सहजही विश्वास कर लेता है। हमें उसका विश्वास करनेकी ही गरज़ है—उसके न होनेसे जीवन अन्धकारमय हो जायगा; विश्वास करना ही हमारी गरज़ है। गरज़का कोई नियम नहीं है। अकस्मात् एक दिन मेरे प्यारका विश्वास मट्टीमें मिल गया। उस दिन हृदयको "लकवा मार गया"। उस दिनसे मेरा हृदय शिर नहीं उठा सकता—उठानेकी चेष्टा करता है, किन्तु उठा नहीं सकता, शिर झुक जाता है। प्रभञ्जन-संताड़ित वंश-वृक्षकी तरह शिर उठानेकी इच्छा करता है, परन्तु उठा नहीं सकता, —उठाते उठाते फिर झुक जाता है। नदीहृदयमें वायु-विताड़ित क्षुद्र तरंग की भांति, मस्तक उठाते ही झुक जाता है। किसी सुन्दर वस्तुका अनुभव करते ही, अभागा हृदय आपही आप अतीतकी अग्निमय गर्भमें प्रवेश कर झुलस जाता है। न जाने कैसा उदासीन हो गया हूं। जीवित

हूं इस लिये सब काम करने पड़ते हैं। सब करता हूं; किये बिना काम नहीं चलता। यह हृदय समाधिक्षेत्र हो गया है—सुखकी समाधि, आशाको समाधि, प्रफुल्लताकी समाधि, उत्साहकी समाधि, प्रणयकी समाधि, भावकी समाधि —जिसे लोग जीवन कहते हैं, चैतन्य व्यतीय उन सबकी समाधि होरही है। मनमें कितने भाव उठते हैं, किन्तु हृदयको स्पर्श नहीं करते—हृदयके चारों ओर चक्कर लगाते हैं परन्तु उसे स्पर्श नहीं करते। केवल वही एक भाव बना हुआ है। जिस तरह मध्ययुगमें पोप-साम्राज्य रोम-साम्राज्यके प्रेतात्माकी भांति उसकी समाधिपर बैठा हुआ था, उसी तरह मेरे हृदयमें भी भावकी प्रेतमूर्त्ति, भावकी समाधिपर समाधि लगाये बैठी है।* यद्यपि इतने दिनोंसे देखा नहीं तथापि, वह "मन्दस्मिते निन्दित शारदेन्दु" भाव हृदयमें ज्यों का त्यों बना हुआ है।

कह चुका हूं, कि यह शयनमन्दिर किसी समय बड़े ही सुखका स्थान था। आज कङ्काल होगया है, किन्तु सदासे ऐसा नहीं था। एक समय ऐसा था जब यहां आने पर भूत-भविष्य सब भूल जाता था, भावमें मस्त हो जाता था—आपेमें नहीं रहता था; परन्तु आज यहां आते हुए डर लगता है। डर लगता है कि,—

* There is a belief among the vulgar in Europe, that the ghosts of the dead haunt their graves.

"कैसेक जायब जमुना तीर।
कैसे निहारब कुञ्ज कुटीर॥"

क्या कहूं, कि कैसा था? उस अग्निमें घीकी आहुति देनेसे क्या लाभ है? यही देखता हूं, कि क्या होगया। मानो अब घरमें घर ही नहीं है। दीनबन्धो! यह क्या कर डाला? विग्रहशून्य मन्दिर की भांति, विसर्जित प्रतिमाके तख्ते की भांति, जनहीन जनपदकी भांति, मध्याह्न समयकी मरुभूमिकी भांति और मेरे हृदयकी भांति, घरमें मानो सन्नाटा छागया है। हृदयके भीतर और बाहर, ब्रह्म-दाहकी तरह वा प्राणप्यारीकी चिताकी तरह धक् धक् होरहा है। मानो घोर नारकीय नरकयंत्रणा समुद्भूत आर्त्तनादका व्यङ्ग करते हुए सहस्रों नारकी पिशाच, विकट दांत निकाल, अट्टहास कर रहे हैं। मेरा वह घर कहां है? जिसे देखकर मैं पिघल जाता था वह घर अब कहां है? इस आकाशमें जो चांद था, मेरा वह चांद कहां है? इस सरोवरमें जो प्रमोद तरणी बह रही थी, वह कहां गयी? शिव! शिव!! यह दशा किसने की? इस दीनका सत्या-नाश किसने कर दिया? यह क्या हुआ? सुखलतापर वज्रा-घात होगया है, किन्तु, न रहनेसे अच्छा होता। मानो किसी विधवाके एकमात्र पुत्रको बाघने पकड़ लिया हो—है, जीवित है; किन्तु, अनाथनाथ! यह कैसा जीना? मानो जीवनभरकी कमाई किसीने सन्दूक तोड़कर चुराली।

शिव, शिव! सन्दूक खुली पड़ी है। कुलक्रमागत पैत्रिक आवासस्थल जल गया है—जली हुई दीवारें पड़ी हैं। देखा क्यों, देखनेके पहले मर क्यों न गया?

सभी हैं, किन्तु सब मानो आंखें मूंदे हुए हैं।

"कुछ नहीं" फर्क बाग-जिन्दांमें
एक बुलबुल नहीं गुलिस्तां में।
शहर जारा बना बैतेहजन,
एक यूसुफ नहीं जो कुनियां में।"

सभी मानो किसीके विरह से विषण्ण हैं। सबका मानो कोई प्रधान गुण नष्ट होगया है, मिटगया है, धुल गया है,—उसका लेशमात्र भी नहीं है। उसीके अभावसे सब न जाने कैसे होगये हैं—सभी मानो उसके न रहनेसे ऐसे हैं— सभी मानो मृत मनुष्यके प्रेतात्माकी तरह, निर्जन गांवकी तरह, जलशून्य सरोवरकी तरह, उत्साहशून्य हृदयकी तरह, विजया दशमीके कालीमण्डपकी तरह अथवा गृहिणीशून्य गृहकी तरह सभी मानो मलीन, अवसन्न, निर्जीव और कातर होकर पड़े हैं। गृहशोभाकी वह सभी सामग्रियां ज्योंकी त्यों पड़ी हैं, किन्तु—हा दग्ध अदृष्ट! हा निदारुण विधि! उनमें वह सौन्दर्य नहीं, वह मधुरता नहीं, वह कमनीयता नहीं, वह मनोहारिता नहीं, वह माया नहीं, वह इन्द्रजाल नहीं,—बहुदीपसमुज्ज्वल गृहमें, रमणी-कण्ठ-निर्गत, कृष्ण-राधिकाके मधुर-प्रेमात्मक मधुर संगीतकी तरह वह हृदय-

हारी भाव नहीं है—मधुर प्रभातकालमें, स्वप्नश्रुत, लोकान्तर-समागत, मृदुवीणाशब्दसङ्गिनी कोमल स्वरलहरी की तरह वह हृदय-हारी भाव नहीं है—प्रातःकालीन भैरवी रागिनी की तरह, शेष रात्रिमें विदाईके गानकी तरह, नव-बसन्त-समागम समयके मृदु-मन्द नैश समीरमें विरहसङ्गीत की तरह, प्रणयिके प्रथम सप्रेम आलिङ्गन की तरह, अस्फुट चन्द्रालोकमें बालिकाके लज्जावरुद्ध प्रेमालापकी तरह, वह हृदयहारी भाव नहीं है। सब कैसे हो गये हैं? मैं भी कैसा होगया हूं? जीवित तो हूं; किन्तु कैसा हो गया हूं?

फलपुष्पपत्र-शोभित वृक्ष पर वज्राघात होनेपर जैसे पत्र, फल, पुष्प, सब जल जाते हैं, शाखा-प्रशाखाएं भस्म होकर उड़ जाती हैं, अथच वृक्ष रह जाता है—पत्रहीन, पुष्पहीन, शाखाहीन, शोभाहीन, अग्निसे जला हुआ सूखा वृक्ष जैसे पहलेवाले वृक्षका स्मारक मात्र रहजाता है, इस अधमाधमकी भी वैसी ही दशा है।

जैसे महासागरमें अर्णवयानके प्रभञ्जनाक्रान्त होनेपर, पाल उड़जाते हैं, पतवार निकल जाता है, मस्तूल टूट जाता है, द्रव्यजातसह नरनारी सागरके गर्भमें समाधि ले लेते हैं; सब जाते हैं; केवल निम्नभाग मात्र अनन्तश्वेतनील विस्तृतिके बीचमें, तरङ्गोंके टक्कर मारनेसे अथवा वायुके झकोरोंसे, इधर उधर बहता रहता है—जानेका पथ नहीं, गतिका

उद्देश्य नहीं, बहनेका प्रयोजन नहीं अथच अकूल सागरमें तैरता रहता है ; ठीक वही दशा इस अधमाधम की भी है ।

वज्राहत वृक्षकी तरह, प्रभञ्जन विध्वस्त अर्णवपोतकी तरह, भग्नावशेष गृहभित्ति की तरह, ध्वंशावशेष नगरकी तरह मैं हूं । इस अभागे जीवनका पचीसवां वर्ष ही चल रहा है ; अब कबतक ऐसे रहना पड़ेगा, यह परमेश्वर ही जानता है ।

"अब सब विष सम लागै मोई ।
हरि हरि ! प्रीति करै जनि कोई ॥"
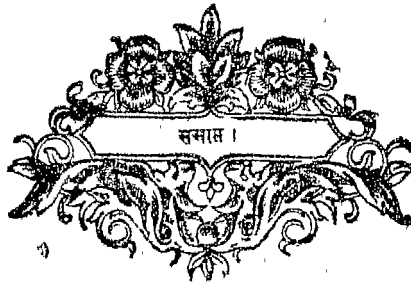
सुलभ ग्रन्थ प्रचारकमण्डल की उपयोगी

बिक्राऊ पुस्तकें।

महाराणा प्रताप सिंह।

प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रतापका सचित्र जीवन वृत्तान्त। हिन्दूसूर्य्य वीरकेशरी महाराणा प्रतापसिंहको कौन नहीं जानता? इस पुस्तकमें उन्हींकी अद्भुत वीरता, अलौकिक कष्टसहिष्णुता, विचित्र दृढ़ता, अपूर्व्व साहस और अटल प्रतिज्ञाका उल्लेख है। अपने देशकी रक्षाके लिये, क्षत्रिय जातिके गौरवके लिये, अपनी स्वाधीनताको मुगलोंके हाथसे बचानेके लिये और सनातन हिन्दुधर्म्मकी मर्य्यादा-रक्षाके लिये इन वीरपुङ्गवने अपनी राजमहिषी तथा सुकोमल राजकुमार और राजकुमारी सहित पचीस वर्षतक जङ्गलोंमें भटककर कितने ही असह्य कष्ट सहे; परन्तु क्षण भरके लिये भी अपनी अटल प्रतिज्ञासे विचलित न हुए; मुगलोंकी वश्यता स्वीकार न की। इस पुस्तकमें महाराणाकी जिन्दगीकी कुल घटनाओंका सुन्दर और सुचारुरूपसे वर्णन किया गया है। महाराणाकी वीरता और साहस देखकर कायरोंके मनमें भी थोड़ी देरके लिये साहसका सञ्चार हो जाता है। राजपरिवारके कष्टोंकी कहानी पढ़कर रोमाञ्च होता है। जङ्गली भीलोंकी प्रभुभक्ति देख दाँतों उंगली दबानी पड़ती है। अधिक क्या इस पुस्तकको एकबार पढ़ना प्रत्येक हिन्दी-प्रेमीका कर्त्तव्य है। दाम केवल ।≠) महसूल अलग।

राजसिंह।

ऐतिहासिक सुप्रसिद्ध उपन्यास।

वङ्गसाहित्य सम्राट बाबू बङ्किमचन्द्र चटर्जी महोदयके सुप्रसिद्ध उपन्यास राजसिंहका यह सुन्दर अनुवाद है। बङ्किम बाबूके लिखे हुए कुल उपन्यासोंका यह शिरोभूषण है। सुप्रसिद्ध 'वीरभारत' पत्रमें जब यह क्रमशः छप रहा था, तब इसका बड़ा सम्मान हुआ था। उस पत्रके पाठकोंने इसे पुस्तकाकार छपानेका वारंवार अनुरोध किया था। राजकुमारी चञ्चलका लड़कपन और धर्म्मदृढ़ता उदयपुरके क्षत्रियकुल-भूषण भारत-गौरव महाराणा राजसिंहका आश्रितवात्सल्य और वीरत्व, माणिकलालकी चालाकी और प्रभुभक्ति, राज-पूतकन्या जोधपुरीका जातीय जोश, औरङ्गजेबका चरित्र-चाञ्चल्य, मुसलमानोंसे राजपूतोंका भीषण युद्ध और जेबुन्निसा प्रभृति मुगलराज-कन्याओंका कुत्सितचरित्र प्रभृति इसमें अच्छी तरह दर्शाये गये हैं। इस पुस्तकके पढ़नेसे हृदयमें कभी वीरता, कभी करुणा और कभी क्रोध उत्पन्न होता है। हम जोर देकर कहते हैं, कि ऐसा सुन्दर ऐतिहासिक उपन्यास हिन्दी भाषामें अबतक नहीं छपा था। २०० पृष्ठकी पुस्तकका दाम सिर्फ १) एक रु०। डाकमहसूल अलग।

स्वामी विवेकानन्दके
व्याख्यान।

ईसाई मजहबका केन्द्रस्थल, आधुनिक सभ्यता-संकुल स्वाधीनता और विलासिताकी विलासभूमि सुदूर अमेरिका प्रदेशमें जाकर हिन्दूधर्म्मकी ध्वजा उड़ानेवाले सुप्रसिद्ध धर्म्मधुरन्धर सन्यासी स्वामी विवेकानन्दजी महाराजका नाम जिसने नहीं सुना, उसने मानो कुछ सुना ही नहीं। सन् १८९३ ईस्वीमें अमेरिकाके चिकागो नगरमें "महाधर्म्मसङ्घ" नामकी एक महती सभा जुड़ी थी। पृथिवीके समस्त धर्म्मोंके प्रतिनिधिगण इस सङ्घमें सम्मिलित थे। हिन्दूधर्म्मकी ओरसे स्वामी विवेकानन्दजी भी पधारे थे। उस धर्म्मसङ्घमें आपने जो व्याख्यान दिये थे, यह पुस्तक उन्हींका संग्रह है। आपकी वाक्पटुता, निर्भीकता और विद्वत्ता देखकर बड़े बड़े धर्म्माचार्य्य चकित रह गये। अमेरिकाके बड़े बड़े विद्वान आपकी वक्तृता सुनकर विमुग्ध हो गये। इन व्याख्यानोंको पढ़ना हिन्दीप्रेमी मात्रका परम कर्त्तव्य है। दाम केवल।)

झांकी।

हो देशहितैषणापूर्ण अपूर्व झांकी। यदि इसे पढ़कर आप प्रसन्न न हो जायें तो दाम वापस। दाम ॥) महसूल अलग।

भाषा महाभारत-सार।

इस बड़े बड़े तीन सौ पृष्ठोंकी पुस्तकमें अट्ठारहों पर्व महाभारतकी कुल कथाओंका सार मर्म बड़ी खूबीसे संग्रह किया गया है। इसकी भाषा बड़ी ही सरल, मधुर और प्राञ्जल है। कौन ऐसा साक्षर हिन्दू होगा, जो धर्म, नीति, न्याय और वीरतापूर्ण महाभारतकी कथा पढ़ने या सुननेका अभिलाषी न होगा। जो लोग अर्थाभावके कारण समस्त महाभारत खरीद नहीं सकते अथवा समयाभाववश पूरी पुस्तक पढ़ नहीं सकते, उन्हें बिना विलम्ब यह पुस्तक मंगाकर पढ़नी चाहिये। "गागरमें सागर"की जो कहावत सुनते आये हैं, वह इस पुस्तकमें प्रत्यक्ष देख लीजिये। शीघ्रता कीजिये। क्योंकि गुदाममें बहुत कम प्रतियां बच गयी हैं और बिक्री हाथोंहाथ हो रही है। खतम होजानेपर पछताना पड़ेगा। दाम १) महसूल अलग।